श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धमपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह
(२५) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह

आत्म-कीर्तन

शान्ततमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान् , जो मैं हूं वह हैं भगवान् ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यह राग वितान ।।

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ।।

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ।।

[५]

होता स्वयं जगत् परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।

अहिंसा धर्मकी जय !

जो आत्माके उत्कृष्ट ध्यानमें आरूढ़ होता है अथवा ध्यानरूपी वाहन पर सवार होता है, ऐसा ज्ञानी पुरुष समतापरिणामसे दु:खोंको सहता है और वह ही अभेदसे निर्जराका हेतु होता है। कर्मोंकी निर्जरा कौन करता है? जो उत्कृष्ट ध्यानमें हो, जो समतापरिणाममें हो, दु:खोंको सहता हो, राग द्वेष उत्पन्न न करता हो– ऐसा ज्ञानी पुरुष निर्जराका हेतु होता है। इस ही बातको इस दोहेमें दिखा रहे हैं—

दुक्खु वि सुक्खु सहंतु जिय णाणिउ झाण-णिलीणु।
कम्महं णिज्जर-हेउ तउ वुच्चइ संग विहीणु॥ ३६॥

हे जीव! ज्ञानी पुरुष आत्मध्यानमें लीन होता हुआ दु:ख और सुखको समतापरिणामसे सहता हुआ अभेदनयसे वही शुभ-अशुभ कर्मोंकी निर्जराका कारण है, ऐसा भगवानके परमागममें कहा गया है। और तप क्या है उसका कि बाह्य और आभ्यन्तर समस्त संगोंकी इच्छावोंसे रहित जो उसकी शान्तवृत्ति है, वही वास्तविक तप है। वैसे निर्जरा एक पर्याय है और निर्जरा पर्यायका कारण आत्माके शुद्ध भावोंका आश्रय है और इस शुद्ध भावका आश्रय है इस ज्ञानी पुरुषके, अतः निर्जराका कारण वही ज्ञानी पुरुष यहां कहा गया है। निर्जराको बताया है कि तपसे हुआ करता है। सूत्र भी है– तपसा निर्जरा च। यद्यपि निर्जरा, गुप्ति, समिति आदि परिणामोंसे होते हैं। जिन-जिन परिणामोंसे सम्वर होता है इन-उन परिणामोंसे निर्जरा भी होती है। कोई परिणाम सम्वरका हो और कोई परिणाम निर्जराका हो, ऐसा नहीं है। जो परिणाम सम्वरका कारण है, वही परिणाम निर्जराका कारण है। फिर भी निर्जराके लिए तपकी प्रधानता दी है।

तप बारह प्रकारके होते हैं, वे समस्त तप संगविहीन हैं। आभ्यंतर और बाह्यपरिग्रहोंसे रहित हैं। आभ्यन्तर परिग्रह तो मिथ्यात्व और कषाय हैं, और बाह्यपरिग्रह ये विषयभूत पदार्थ हैं। आत्मामें जो विकार उत्पन्न होता है, जो आत्माका स्वरूप नहीं है, उसको अपनाना यह तो आभ्यतर परिग्रह है और जिन बाह्यपरिग्रहोंमें दृष्टि देकर अपना संसार बनाते हैं वे बाह्यपदार्थ, बाह्यपरिग्रह कहे जाते हैं। यह ध्यानका प्रकरण चल रहा है कि उत्कृष्ट ध्यानमें रहते हुए साधु पुरुष कर्मोंकी निर्जराका कारण बनते हैं। तब यहां प्रभाकर भट्ट प्रश्न कर रहे हैं कि ध्यानको आपने निर्जरा बताया है और ध्यानका लक्षण है "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्" जो

उत्कृष्ट संहननका धारी हो, ऐसे पुरुषके किसी एक विषयमें चित्तके रुक जाने को ध्यान कहते हैं। तो जिनके उत्तम संहनन नहीं है उनके ध्यान कैसे कहा जाय ? इस प्रश्नके होने पर योगीन्दुदेव उत्तर देते हैं।

उत्तम संहननके जो उत्तम ध्यान बताया गया है वह अपूर्वकरण गुणस्थान आदिकोंमें जो शुक्ल ध्यान कहा है उसकी अपेक्षा इस ध्यानका वर्णन है, किन्तु अपूर्वगुण गुणस्थानसे अप्रमत्तके गुणस्थानोंमें धर्मध्यानका निषेध नहीं है। अनेक ग्रन्थोंमें भी ये सब बातें स्पष्ट की हैं। जो वज्रवृषभनाराच संहननका धारी है उसका ध्यान आगममें उत्कृष्ट बताया है। उत्तम संहनन वालेके ही उत्कृष्ट ध्यान बतलाते हैं और उत्कृष्ट पद पर उत्तम संहनन वाले ही पहुंच पाते हैं। छटे गुणस्थानवर्तीसे लेकर तीन संहननोंके धारी मुनि, श्रेणीमें चढ़ सकते हैं, और सर्व प्रथम वज्रवृषभनाराचका धारी ही क्षपकमें चढ़ सकता है। उत्तम ध्यान यहां दोनों श्रेणियोंमें बताया है। उत्तम संहनन में तीन श्रेणियां बतायी गई हैं। इन संहनन वाले जीवोंके उत्तम ध्यान बताया है; पर अप्रमत्त गुणस्थान तक धर्म ध्यान बताया है, उसका निषेध नहीं किया गया है। धर्मध्यान तो सब जीवोंके भी हुआ करता है, पर शुक्लध्यान नहीं होता। यह उत्कृष्ट ध्यानकी बात शुक्लध्यानसे समझिये। राग द्वेषका अभाव हो जाय, उसे परम यथाख्यातरूप निश्चयचारित्र कहते हैं। यह सर्वोत्कृष्ट ध्यान है। इस समयमें यदि अष्टम गुणस्थान वाला और ऊपरके गुणस्थान वाला ध्यान नहीं होता है तो भी हे तपस्वीजनों! अनरचारित्रका आचरण करते हुए ध्येय मोक्षका ही रखो। धीरे-धीरे आचरण पर चलते बने, प्रशस्त बने तो धीरे-धीरे ही चलते रहो, पर मार्गसे च्युत न हो, प्रमादी मत बनो। जो प्रमादी नहीं होता वह अपने कार्यमें अवश्य सफल होता है।

बच्चे लोग एक कहानी कहा करते हैं कि एक बार कछुवा और खरगोशमें गतिके ऊपर विवाद हो गया। खरगोश बोला "कि मैं सबसे तेज चाल चलता हूं और जिस जगह जाता हूं वहां बहुत जल्दी पहुंच जाता हूं।" कछुवा बोला "मैं तेज चलता हूं।" यह तय हुआ कि जो आगे पहुंच जाय वह दूसरेके कान काटे। दोनों चल दिये। खरगोश दौड़ लगाता हुआ चला और कछुवा धीरे-धीरे चला। इस तरहसे खरगोश तो बहुत जल्दीसे आगे निकल गया। कछुवा पीछेसे धीरे-धीरे गया। खरगोशने सोचा कि कछुवा तो बहुत पीछे है थोड़ासा आराम करलें। एक पेड़के नीचे वह आराम करने लगा तो सो गया। नींद ले रहा है कि इतनेमें कछुवा धीरे-धीरे चलता हुआ खरगोशसे आगे निकल कर उस स्थान पर पहुंच गया। तो खरगोशने कछुवे से अपने कान कटाये। जो प्रमादी नहीं होता है वह कभी सफल

हो ही जाता है।

भैया! यदि न हो शुक्लध्यान इस कालमें, क्योंकि सप्तम गुणस्थान से आगे इस कालमे गति नहीं है तो अपने गुणस्थानके योग्य आचरणको करना चाहिए। उत्कृष्ट चारित्र आजकल नहीं है। उत्कृष्ट चारित्र कहलाता है यथाख्यात चारित्र। जहा कषाय नहीं है, अत्यन्त निर्मल शुद्ध आत्मा है उसे कहते हैं यथाख्यानचारित्र। वह नहीं है तो भी हे तपस्वीजनो! यथाशक्ति रत्नत्रयके आचरणमे ही प्रगति करो। आज भी यदि मन वचन कायसे कोई शुद्ध रहता है, तो वह आत्मा के ध्यानके प्रसादसे इन्द्रपदको प्राप्त होता है। और इन्द्रपदमें भी दक्षिण इन्द्रको प्राप्त होता है अथवा लौकान्तिक देवपनेको प्राप्त होता है, जहासे च्युत होकर फिर निर्वाणको प्राप्त हो जाता है।

इस दोहेमें समतापरिणामसे रहनेका उपदेश किया गया है, और उत्कृष्टचारित्र सम्भव न होने पर भी अपनी योग्यताके अनुसार आत्मीय आचरणमे लगनेका संकेत किया गया है। जैसे उत्तम संहननके रहते हुए ध्यानके द्वारा संसारकी स्थिति छेदी जा सकती है वैसे एकदम पूर्ण तो नहीं पर संसारकी स्थितिको इस शेष संहननके द्वारा भी छेदा जा सकता है। शुक्ल ध्यान तो साक्षात्में मुक्तिका कारण होता है। पर धर्मध्यान भी परम्परासे मुक्तिका कारणहोता है। जैसे साधुमार्ग साक्षात् मोक्षका कारण है। वर्तमानमें तो नहीं, इस कालमें मुक्ति नहीं होती है। पर साधुपद साक्षात् मुक्तिका कारण है। विदेह क्षेत्रमें अब भी साधु जन मुक्तिका अपना मार्ग साक्षात् बनाए हुए हैं, और गृहस्थ धर्म परम्परासे मुक्तिका कारण होता है। उनका भी लक्ष्य और उद्देश्य वही है जैसा कि साधुजन करते हैं। जिन्हें विषयोंसे रागादिक भावोंसे प्रीति है वे तो आसक्ति जानकर ऐसा ही सब में अनुमान कर कह देते हैं कि अब इस कालमें मुक्तिका मार्ग नहीं है, उत्तम ध्यानका अभाव है। सो मोक्षकी प्राप्तिका लेश भी ध्यान नहीं बन सकता है, उनकी बात असत्य है। हा शुक्लध्यान नहीं बन सकता है, पर धर्मध्यान तो अब भी सम्भव है। साक्षात् मोक्ष नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग तो कुछ हो ही सकता।

उद्देश्य जिनका निर्मल है वे पूजा करें, सामायिक करें, गुरुकी उपासना करें, सर्वत्र मोक्षकी प्राप्तिका लाभ मिलता है, किन्तु जिनका उद्देश्य आत्मतत्त्व के विकासका नहीं है वे किसी भी स्थितिमें रहें, उनकी ऐसी ही वृत्ति बनेगी। जो राग अथवा द्वेषको उत्पन्न करने वाली होगी। जिनका उद्देश्य ही शुद्ध नहीं है वे कहा शुद्ध बातको कर सकते हैं? जो गृहस्थ हैं उनका भी उद्देश्य शुद्ध है, साधु है, उनका भी उद्देश्य शुद्ध है। सभी चाहते

हैं कि हमें इन कर्मोंसे मुक्ति मिले, शरीरके बन्धनसे छुटकारा हो।

भैया! गृहस्थका ऐसा वातावरण होना है कि रात दिन विषयकषाय के साधनोंको पूज रहे हैं और अनेक मोहियोंसे वार्तालापका प्रसंग छेड़ते हैं ऐसा जिनका संस्कार निर्बल हो गया है वे गृहस्थपुरुष चूंकि आश्रय बिना अपना चित्त भक्तिमें नहीं टिका सकते हैं, इस कारण मंदिरमूर्ति द्रव्यका सजाना, संगीतका सामान जोड़ना आदि विधानों सहित अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं, पर उद्देश्य जिनका शुद्ध है वे रागादिमें रहते हुए भी अन्तर्ज्ञानबलसे मुक्तिकी ओर ही हैं। गुरूपासना, गुरुवोंकी सेवा उनकी व्यवस्था और उनके सत्संग, ये सब भी वह गृहस्थ करता है जिस गृहस्थको मुक्तिकी चाह है। अन्यथा लोग यह समझकर किया करते हैं कि भक्तिसे पुण्य बढ़ता है और उस पुण्यसे अपने घरका ठिकाना मजबूत बनता है। यह सच्चे मायनेमें गुरुकी उपासना नहीं है और न गुरुके गुणोंपर रत्नत्रय पर दृष्टि की जा सकती है।

जिनको मुक्तिकी चाह है और मुक्तिमार्गमें लगनेकी धुन है, उनको हो, उनसे लौकिक अनुराग उत्पन्न हो सकता है जो कि मोक्षमार्गमें लगे हुए हैं। जिनका उद्देश्य शुद्ध है वे गुरु आधुनिक कालमें भी मुक्तिका रास्ता पा रहे हैं। स्वाध्यायमें भी आत्महितके भाव से उनका स्वाध्याय होता है जिनका उद्देश्य शुद्ध होता है अन्यथा ज्ञानकी वृद्धिके लिए स्वाध्याय होता है। मैं ज्ञान और बाह्य जानकारी अधिक करूँ अथवा लौकिक जानकारी करूँ? जब कि शुद्ध भावोंसे रहने वाले ज्ञानी पुरुषके स्वाध्यायमें यह भाव रहता है कि मेरी दृष्टि मेरे स्वरूपपर अधिक क्षण रहे। इस वास्ते वह ज्ञान की बातें बाचता है, सुनता है, मनन करता है। संयममें भी जिनका उद्देश्य शुद्ध नहीं है, वे स्वर्गोंकी बातें सुनकर स्वर्ग जानेके लिए संयम करते हैं और इसी नाते से मोक्षकी महिमा जानकर स्वकल्पित मोक्षके सुखके भावसे भी वे संयम करते हैं, पर उनकी दृष्टिमें विलक्षण सुखकी अनुभूति नहीं है। वे जानते हैं कि जैसा लौकिक सुख है उससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है। भैया! जिन्हें आत्मसत्त्वका परिचय हो गया है वे चाहते हैं कि चलो मोक्ष के लिए चलें, वहाँ विशुद्ध आनन्द है। मुक्तिमें जाने का अर्थ यह है कि मैं केवल आनन्दमात्र ही रह जाऊं, क्योंकि परस्वरूपमें हित नहीं है। मैं अपने स्वरूपमात्र रह जाऊँ, यह ही मुक्तिकी उत्तम भावना है। ऐसी ही भावना वाले ज्ञानी पुरुषका यथाविधि स्वाध्याय होता है।

तपकी बात भी इसी प्रकार है। आत्महितार्थी किन्तु आत्मतत्त्वसे अपरिचित पुरुष न जाने किन-किन भावोंसे तप करते हैं? मैं शुद्ध हू, मैं

उत्कृष्ट हू, मेरा यही काम है, तप करना चाहिए, उस तपसे मोक्षकी सिद्धि होती है, पुण्य होता है। तपसे ऐसा न जाने कितने विकल्पोंमें पालन किया जाता है। एक चेतनके विशुद्धस्वरूपको निरख कर उसमे ही उपयोगको पाये रहनेको विशुद्ध तप कहते हैं। ये बाह्यतप तो विषयकषायोको उपयोग से हटानेके लिए किए जाते हैं। ऐसे यथार्थ उद्देश्य वाले ज्ञानी पुरुषके तप की विधि भी उत्तम होती है। और दानकी विधि भी यथार्थ आचरण वाले की उत्तम होती है। यथार्थ जानने वाला अपने ज्ञानस्वरूपपर ही अत्यन्त मुग्ध है। यही तो मेरा सर्वस्व है। इस तरहका गृहस्थ हो तो वह भी परम्परया मुक्तिके कारणभूत ध्यानको सेता है और साधु हो तो वह उससे भी विशिष्ट रीतिसे ध्यानका सेवन करता है। इस प्रकार सभी मुमुक्षु अपनी अपनी परिस्थितियोंमे अपने योग्य धर्मके आचरणको करे।

अब यह बतलाते हैं कि सुख दुःखको सहता हुआ ज्ञानी पुरुष जिस कारणसे समतापरिणामको कर लेता है, उस कारणसे पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंके संवरका हेतु बनता है।

विण्णि वि जेण सहतु मुणि मणि सम-भाउ करेइ।
पुण्णहं पावह तेण जिय संवर-हेउ हवेइ ॥३७॥

जिस कारण सुख दुःखको आत्मामे सहता हुआ प्रत्यक्ष ज्ञानी पुरुष निश्चिन्त मनमे समतापरिणाम को करता है अर्थात् रागद्वेष रहित स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानानन्दरूप परिणमन करता है अर्थात् विभावरूप नहीं परिणमता, इसी कारण हे जीव! उस ज्ञानी पुरुषको तुम पुण्य और पापके संवरका कारण जानो। जैसे पहिले छंदमें निर्जराका कारण बताया, इस दोहेमें संवरका कारण बताया, इन दोनो कारणोंमे और कुछ अन्तर नहीं है। ज्ञानस्वरूपकी उपासना करो, समतापरिणाम करो और जीव दुःखमे आये तो क्षोभ न करो—यही बात निर्जराके लिए बताई है और यही बात संवरके लिए बताई जा रही है। कर्मोंके उदयके वशसे सुख और दुःख उत्पन्न भी हो जायें तो भी जो पुरुष रागादिक रहित मनमें विशुद्धज्ञानी, शान्तस्वभावी निजशुद्ध आत्माके सम्बन्धको नहीं छोड़ता है वह ही पुरुष संवरका कारण है। जिन विधियोंसे कर्म आते हैं उन विधियोंका न करना, सो कर्मोंके न आने देनेका उपाय है। कर्म आते हैं मोह और कषाय भावसे।

भैया! उस मोह और कषायके स्वरूप को कौन नहीं जानता? परिग्रहमे लालसा रखना, अपने रागादिक परिणामोंका अपनाना, सब जीवोंको एक समान न मान सकना—ये सब मोहके ही तो रूप हैं। अपना जितना तनका श्रम है, मनका संकल्प है और जितना भी धन कमाना है

यह सबका सब सर्वस्व उन घरके दो तीन जीवोंके लिए ही हो और उनके अतिरिक्त किसी अन्य जीवोंपर समानता का भाव न पैदा हो तो इसे मोह नहीं तो और क्या कहा जा सकता है ? जैसे सिद्धान्तमें प्रमुख उपदेश मोह छुडाने का है, पर साथ ही पुण्य का भी उदय प्राय पवित्र विचार वालोंके अथवा यों कहिये कि इस वातावरणमें रहने वालोंके होता है, ठीक है। पुण्यका ठाठ भी होता है तो प्राय. ऐसी वृत्ति बन गई है आजके समयमें हम जितना मोहको हटानेका उपदेश बाचते हैं, सुनते हैं, लौकिक दृष्टिसे अधिक मोह हम आपके समाजमें ही पाया जाता होगा। लौकिक ज्ञानके मोहकी बात नहीं कह रहे हैं। ज्ञानका मोह तो सबके हैं, पर परिग्रहकी व्यवस्था, परिग्रहका सचय और परिग्रह से हिलते रहना इस बातोंमें कम नहीं पाये जाते हैं। मोहबुद्धि तो इम माने गए परिवार जनोंमें बहुत अधिक है। इसका कारण क्या है कि यहां तो पुण्यका ठाठ है और उसके उदयमें एक यह भूल पड़ गई। कुछ भी हो, इसने चेतना न चाहा तो यह बड़ी धोखेकी बात होगी। यदि हम ऐसे ऊँचे भवसे गिर गए, साधारण भवों में चले गए तो वहा कौन सहायता करने वाला है ? जब तक हमारा विवेक शुद्ध है तब तक इस विवेकसे हम अपने हितका काम निकाल ले। जैसे बने मोहको दूर करें, आखिर यहासे मरने पर मोह दूर होगा ही। यदि अपने जीवन में ही मोहरहित अनुभव कर सके तो सवर और निर्जरा स्वयमेव ही हममें आ सकती है।

अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरुवि णिलीणु।
सवर-णिज्जर जाणि तुहु सयल-वियप्प-विहीणु ॥३८॥

मुनिराज जितने समय तक आत्मस्वरूपमें लीन हुए रहते हैं अर्थात् वीतराग नित्यानन्द परम समरसी भावसे परिणमते हुए अपने स्वभावमें लीन रहते है उतने समय हे प्रभाकरभट्ट ! तू उनको समस्त विकल्पोंसे रहित सवर और निर्जरारूप जानों। महिमा है आत्मस्वरूपमें लीन होनेकी। आत्मस्वरूपमें लीन वही पुरुष होता है जो अपनेको ज्ञानस्वरूप मानकर रहता है। मैं केवलज्ञानस्वरूप हू, मात्र ज्ञानरूप हू—ऐसी बराबर भावनाके परिणाममें जीवकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि वहां सकल्प विकल्प नहीं रहते हैं। ऐसे सकल्प विकल्पसे विहीन उस मुनिराजको तुम साक्षात् सवर और निर्जरा जानो। विकल्पजालोंमें कौन विकल्प जाल तो खोटा और बाधक होता है और कौन विकल्प जाल कर्मोंके विपाकसे उत्पन्न होतो है, पर जीवके मोक्ष मार्गमें बाधक नहीं होता है ? सूक्ष्मदृष्टिसे तो सभी बाधक हैं, पर मुख्यरूपसे सब अनुराग विशेष बाधक नहीं होते हैं। अपनी

जगत्में ख्यातिकी चाह हो यह बहुत बडा बाधक विकल्प है।

भैया! इस जगत्में क्या सार है? जहा अपनी ख्याति बढाई जाये? और ख्याति क्या चीज है? एक स्वप्नवत् स्थिति है। लोगोंका समागम और ये सब अपनी पोजीशनकी बातें सब स्वप्नवत् हैं। जैसे स्वप्नमें देखी हुई बात सच नहीं है, वह स्वप्नमें सच लगती है, जागृत दशा होने पर वे सब बाते झूठ मालूम होती हैं। इसी तरह मोहकी नीदके विकल्पमे ये सब समागम, इज्जत, पोजीशन ये सब मालूम देते है, किन्तु ये सच नहीं हैं। मोहकी नीद टूटनेपर अर्थात् ज्ञानके नेत्र खुलने पर ये सब बातें अहित असार मालूम होने लगती हैं। कहा ख्याति कराना है? किसको जताना है कि मैं हू। जो मैं हू वह लोगों द्वारा जाना नहीं जा सकता। जो मैं नहीं हू उसमे ही लगनेका भाव लोग रखते हैं। मै शुद्ध ज्ञान ज्योतिमात्र हू। मुझे कोई जान जाये तो वह भी परमात्मस्वरूपमें लीन हो जाता है, किन्तु भैया बडे खेदकी बात है कि जो मै नहीं हू, उसे जताने के लिए हम यत्न करते हैं। कर्मोके बधनमें फसे हुए जन्ममरणके चक्रमें उलझे हुए हैं इतने तो विपत्ति के बीच हैं हम और ख्यातिके पोषणमें विषयों को मौज माने, इन सब बातोंमे हम फसते हैं जो कि अनुचित हैं।

दूसरा विकल्प है कुछ उससे ही मिलता जुलता कि मेरा सत्कार लोक मे हो, किसका सत्कार चाहिए? ये नाक, आख, कान वाले चामका सत्कार चाहते हैं। अगर सत्कार चाहो तो ज्ञानस्वरूप आत्माका चाहो। और तो जड़ हैं, स्कध हैं, मिट जाने वाले हैं, इनका सत्कार ही क्या और आत्मा तो आकाशवत् निर्विकल्प, अमूर्त चैतन्यमात्र है। उसका सत्कार कोई दूसरा कर सकता है क्या? नहीं। खुदका सत्कार खुद ही कर सकता है। सो अपने आपके स्वरूपके ज्ञानका, अपना पोषण करना चाहिए। ख्याति और पूजा का विकल्प, सत्कार का विकल्प महान् मोहसे भरा हुआ है। ये जीव-सज्ञी व्यर्थ ही ख्याति पूजाके विकल्पोंसे परेशान हैं। धन क्यों लोग बढाना चाहते हैं? क्या इस लिए कि किसी समय कहीं रोटी मिलनेका सेजा न मिट जाये, इसलिए कमाते है क्या? नहीं। इसके लिए तो साधारण यत्नसे थोड़ा ही कमाया हुआ बहुत है। हजारपति हो तो लखपति होनेकी आशा करता है। लखपति हो तो करोड़पति होनेकी आशा करता है। तो इतनी जो व्यर्थकी आशा की जा रही है, वह उदर पोषणके लिए है क्या? दुनियामें अच्छा कहलाऊ, बड़ा कहलाऊ इसके लिए यह होड़ मच रही है। यह दुनिया मायामय है, इसमें बडा कहलाया तो क्या? कहने वाले भी न रहेंगे और कहलवाने वाला भी न रहेगा। सब मामला साफ हो गया। कुछ भी सार

इन बातोंमें नहीं है।

भैया! यह विकल्पजाल शल्य कहलाता है। जिसको पोजीशनकी की वाञ्छा रहती है वह सदैव सशल्य होता है। जैसे धनी होनेकी हद नहीं है। लखपति हो तो करोड़पति होना है। करोड़पति हो तो अरबपति होना है। अरबपति हो तो और अधिक वाञ्छा है। तो जैसे धनी होनेकी योजना कभी पूर्ण नहीं होती, इसी प्रकार ख्याति लाभकी योजना भी किसी की पूर्ण नहीं होती। यह विकल्पजाल इस जीवको शांतिके मार्गसे रोक देता है। सो इन विकल्पजालोंसे विहीन जो ज्ञानी पुरुष है, वे ही इन कर्मोंकी निर्जरा करते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं। इस दोहेसे यह शिक्षा लेना है कि हम कैसी ही परिस्थितिमें हों, कैसे ही प्रसगमें पड़े हों, फिर भी अपने स्वरूपको सभालकर अपने अन्तरमें अपने स्वरूपको निहार कर सब बोझ को श्रद्धा बलसे दूर करदे। मुझ पर किसीका भार नहीं है, मुझे इस जगत्में कुछ नहीं करना है। कुछ करनेकी चाह भी एक बड़ी बीमारी है। कुछ करना है, अभी यह काम पड़ा है। सो काम कर चुके का आनन्द तो दूर रहा, कुछ काम करनेका शल्य बना जाता है।

इच्छाएं महा शल्य हैं, उनकी कभी पूर्ति नहीं होती है। किसी इच्छा की पूर्ति हो जाये अर्थात् इच्छा विनष्ट हो जाये तो नवीन इच्छा हो जाती है। इच्छा न उत्पन्न हो तो जीवको कोई कलेश नहीं है। बचपनसे और बूढ़ों तकके देखो, कितनी-कितनी किस्मकी इच्छाएं चलती हैं और मरते समय तक भी उन इच्छावोंसे अलग नहीं हो पाते हैं। ऐसा यह इच्छाका जाल मोही जीवमें भरा हुआ है। सो ये इसके बधनमें दुःखी हैं। जितने काल संकल्प विकल्पसे रहित शुद्ध चैतन्यभावमें उपयोग रहता है उतने काल इन सत्पुरुषोंको सवर और निर्जरारूप जानों।

इस अधिकारमें मोक्ष, मोक्षका मार्ग और मोक्षकाफल यहा बताया जायेगा। इससे पहिले अधिकारमें आत्मा, अतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्माका स्वरूप बताया था। परमात्मा किस उपायसे परमात्मा हुए हैं? इस बातका विशेष व्याख्यान इस दूसरे अधिकारमें चल रहा है। यह प्रकरण है भेदरत्नत्रयका। जब धर्मके बीच धर्मको माने तो "धर्म किया" कहलानेके योग्य होता है। धर्म तो आत्माका स्वरूप है। वह धर्म जिन आत्मावोंको मिले उन्हीं आत्माओंको धर्म कहते हैं। और धर्म परमार्थत अपने आपमें मिलता है। सो धर्म इस अपने आपका ही नाम है। अब आगे शात भावोंका वर्णन किया जायेगा कि जीव उपशम भावोंको किस प्रकार करता है और इन उपशम भावोंसे अर्थात् शांतिके परिणामोंसे इस

जीवका क्या हित होता है ? इन सब बातोंका वर्णन अब आगे चलेगा।

कम्मु पुरक्किउ सो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
संगु मुएविणु जो सयलु उवसम-भाउ करेइ ॥ ३९ ॥

वीतराग स्वसम्वेदनज्ञानी पुरुष पूर्व उपार्जित कर्मोंको नहीं होने देता है, ऐसा वही ज्ञानी पुरुष कर पाता है जो समस्त बहिरंग और अंतरंग परिग्रह छोड कर परमशान्तिभावको उत्पन्न करता है। जो जीवन मरणमें समता रखता है, लाभ अलाभकी जहा छटनी नहीं होती है, सुख दु खमें जिनकी कोई छटनी नहीं है, ऐसे समतापरिणामको जो ज्ञानी पुरुष करता है वही पुरातन कर्मोंकी निर्जरा करता है और नवीन कर्मोंका सम्वर करता है। जिन्होंने आत्माके ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया है, वे जानते है कि यह अनादि अनन्त है। इसका न जन्म है, न मरण है। यह जीवन मायामय है। यह जीवन रहा तो क्या और मरण रहा तो क्या ? वैसे तो मरण किसीका नाम नहीं है। एक घर छोड़ा दूसरे घरमें रहे तो जाने वाला पुरुष तो वही है। पुराना घर जीर्ण हो गया, नया घर बनवाया तो पुराने घरको छोडा और नये घरमें प्रवेश किया, पर प्रवेशकर्ता तो वही है। उसका क्या बिगडा ? इसी प्रकार अभी मनुष्यआयुका अनुभव कर रहे हैं, कभी मनुष्यआयुको छोडकर देवआयुका अनुभव किया, तो मरण कहां हुआ इस जीव का ? न रहा मनुष्यदेहमें, पहुच गया देवपर्यायमें, पर इसका मरण कहा हुआ है ?

ज्ञानी पुरुष जीवन और मरणको एक समान गिनते हैं। इसी प्रकार किसीका लाभ हो तो, न लाभ हो तो दोनों ही स्थितियोंमे एक समान मानते हैं। धन वैभव, इज्जत, प्रशसा किसी बातका लाभ हो गया तो उससे आत्मा का क्या बढ गया, बल्कि घट गया। और लाभ न हुआ कुछ तो इससे आत्माका क्या घट गया ? परवस्तुके परिणमनसे इस आत्माको न लाभ है, न अलाभ है। यह विकल्प करे तो अलाभ है, और विकल्प त्याग दे तो लाभ है। लाभ और अलाभमें ज्ञानी सत पुरुषोंके समान बुद्धि है। अच्छा गृहस्थावस्थामें यदि धन बढ गया तो कौनसा बडप्पन पाया, और धन घट गया तो कौनसी आत्माकी बात बिगड गई ? यह जो लौकिक व्यवहार है वह मायामय है, असार है। किसीने भला कह दिया तो उससे कुछ मिलता नहीं और किसीने बुरा कह दिया तो उससे कुछ गिर नहीं जाता। लाभ और अलाभ उन ज्ञानी सत पुरुषके एक समान बताये हैं। आत्माका सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका धारण और पोषण करे तो यह आत्माके लाभकी बात है। और बाहरी वैभव कुछ जुड़ गया, मिल गया, बढ गया तो इससे क्या बड़प्पन हो गया ? भीतर देखो। क्या ऐसा नियम देखा गया है

कि जिसके अधिक धन हो उसके शान्ति आराम और आनन्द हो ? यदि ऐसा नियम हो, तब तो धन सचयमे ही बढ़ना चाहिए। अरे ! ऐसा नियम नहीं है। और नियमकी बात तो दूर रही, उल्टी बात देखी जाती है। जहा धन बढ जाता है वहा फिर ससार भी बढ़ जाता है और धर्मको समय भी नहीं मिल पाता है। सभी अपनी-अपनी बात सोच ले।

ज्ञानी पुरुष बाह्यमे छोटी ही परिस्थिति अर्थात् परिग्रहपरिमाण चाहते हैं, जिससे भगवानका ख्याल बना रहे, और ऐसे लखपति, करोडपति होने में क्या तत्त्व है ? धनकी लालसा भी बढ़े और भगवानसे भी गए। धन बढ़ने पर तारीफ तो तब है कि धनकी उपेक्षा करें। ऐसी अपेक्षा न रखे कि अपने धर्मकार्योंमें, अथवा अन्य कार्योंमें, छोटे लोगोंसे प्रेमव्यवहारमें जिससे बाधा आए। ज्ञानी पुरुष लाभ और अलाभ दोनोंमें समान बुद्धि रखते हैं। इसी प्रकार आत्मामें सुख-दु ख क्या है ? सुख है आकुलता और दु ख है अनाकुलता। ससारका कोई सुख है ऐसा जहा आकुलताए न भरी हों ? परिवारका सुख, प्रतिष्ठाका सुख या अन्य किसी प्रकारका सुख, कहीं किसीने निरखा है कि जहा क्षोभ न होता हो और शांति हो ? अपने सब सुखोंका ख्याल करलो। उन सुखोंमें क्षोभ मिला या अशाति मिली। भोजन करते हुए में कितना विकल्प और क्षोभ बढ़ जाता है। कोईसा भी विषय ले लो। आखोंसे सिनेमा देखनेके विषयमें यह जीव कितना आकुलित होता है, तब आकुलित होकर भोग पाता है। कभी यह भी इच्छा हो जाती है कि जरा इतर तो सूंघ ले। हालाकि है कुछ तत्त्वकी बात नहीं इस नाकके पीछे। अगर गध घुस गयी नाकमें तो कौनसा बडप्पन हो गया ? मगर यह भी इच्छा हो जाती है कि जरा इतरका अनुभव तो करलें, मजा तो ले लें। उसमें भी वह क्षोभ करता है। देखें फलाना कैसा इत्र है ? अच्छा चलो उसकी दूकान पर, उस दूकानमे से कैसी गध है, वह इत्र लावो, वह शीशी उठावो। कितनी ही प्रकारकी यह आकुलताए मचाता है।

सुननेके विषयको भोगनेका भाव हो तो वहा भी यह कितना क्षोभ मचाया करता है। अब बैठे हैं सगीत सुनने। अब सगीतमें १५ मिनट तो तबले वालोंने ले लिये अपना तबला कसनेमे, दर्शक बेचारे आशा लगाये बैठे हैं सुननेके लिए। तो देखो श्रोतावोंके कितना क्षोभ मच रहा है ? तार सितार वाला भी बाजेके कान ऐंठ रहा है। यहा श्रोतावोंको क्षोभ आ रहा है कि ये लोग सगीतके बाजे घरसे क्यों नहीं ठीक करके लाते ? जब तबले की ठुमक-ठुमककी तान निकली तो वहा भी बेचैन हो रहे हैं क्योंकि सुनने का राग उनके बना है। अच्छा और फिर सुनते हैं तो सुनते समय भी शाति

नहीं हो पाती है। कौनसा विषय ऐसा है कि जिस विषयसे शांति भोगी जाती हो ? विषयोंसे आकुलताएं ही हैं, क्षोभ ही होता है, और विषय भोगने के बाद भी आकुलताएं हैं। सर्वत्र आकुलताएं हैं तो कौनसा सुख ऐसा है जो हितकारी हो ? केवल निर्विकल्पस्वरूपसे जो स्वाधीन आनन्द उत्पन्न होता है, वही आनन्द एक उपादेय है।

ये सुख और दु ख दोनों एक समान हैं। सुखके बाद दु ख आता है और दु खके बाद सुख आता है। सब जगह देख लो। कोई भी दु खी ऐसा न मिलेगा जो सदा दु खी रहता हो और कोई भी जीव ऐसा सुखी न मिलेगा जो निरन्तर सुखी रह सकता हो। सुखके बाद दु ख आता है और दु खके बाद सुख आता है। जिसे यह खबर है कि सुखके बाद दु ख आता है उसे सुख भोगनेकी रुचि नहीं रहती है। क्या भोगे इसके बाद क्लेश मिलेंगे। जिसे यह पता है कि दु खके बाद सुख आता है वह आकुलित नहीं होता है। आया है दु ख तो थोडा गम खाये, विवेकसे काम ले, दु ख सदा नहीं रहा करता। जैसे जिसे फांसी देनी हो और फांसीसे पहिले उसके सामने मिठाई का थाल रखा जाय और उससे कहा जाय कि तुम्हें जो चाहिए सो खावो, जो इच्छा हो वही चीज खावो तो क्या वह खा लेगा ? अरे ! उस बेचारेको तो पता है कि अभी ५ मिनटका समय रह गया है फांसी मिलेगी, उसे भोजन में क्या रुचि होगी ? ज्ञानी जीवको यह विदित है कि विषय सुखके बाद क्लेश ही आया करते है, आनन्द नहीं आता है तो ऐसा बोध होने पर वह विषय सुखमें नहीं रम सकता है। काहेका सुख और काहेका दु ख ? ये इच्छाएं मिटे तो दु ख भी मिट गया समझिये।

एक बाबा थे बूढ़े, सो उसके पोते उसे हैरान करते थे। कोई सिर पर कूदे, कोई बाल नोचे, कोई कान नोचे, कोई कुछ करे। बाबा रोने लगा। सामनेसे निकला एक साधु बोला, "बाबा क्यों रोते हो" ? बाबाने कहा, कि "पोते बड़े खराब पैदा हो गए, सो उनसे हमें दु ख मिलता है।" साधुने कहा, कि "हम आपका दु ख मिटा दे" ? वह बूढा समझ गया कि यह हमारे पोतोंको ऐसा मंत्र दे देंगे कि वे हैरान न करेंगे और हाथ जोड़े मेरे सामने खडे रहेंगे। सो कहा, दु ख दूर दो। साधुने कहा, कि "इन पोतोंकी ममता छोडो और हमारे साथ चल दो, देखो तुम्हारा दु ख मिटता है कि नहीं ?" तो वह बोला कि "पोते मुझे चाहे जो करें वे पोते ही रहेंगे और हम उनके बाबा ही रहेंगे। तुम तीसरे कौनसे दलाल आ गए, जो विच्छेद लगा रहे हो, हमें तो इसीमें आनन्द है।" तो भाई इसीमें तो दु ख है। जितना भी जीवोंको दु ख है वह ममताका है। ममता छूटे तो दु ख मिट गया। जिस

किसी को दुःख हो, वह इस दवाको करले, ममताको छोड़ दे, लो दुःख मिट गया।

भैया! किसीके २० हजार का टोटा पड़ गया, उसका दुःख हो रहा है तो इसमें केवल यह ख्याल करना है कि मैं सबसे न्यारा हूं, अपनेको निर्विकल्प अनुभव करे और २० हजारकी ममताको छोड़ दे—देखो फिर दुःख मिटता है कि नहीं। क्या दुःख है जीवको सिवाय ममताके। ममता छोड़ दे, लो सारे क्लेश मिट गए। ज्ञानी पुरुष जानते हैं सुख दुःख परिणामोंको कि दोनों ही आकुलताओंसे भरे हैं, समान हैं। उनके सुख और दुःख दोनोंमें समानता रहती है। जो समतापरिणाम करता है वह अपने कर्मोंका नाश करता है और नवीन कर्मोंका संवर करता है। वही समस्त परिग्रहों को छोड़कर सारे शास्त्रोंको असली मायनेमें पढ़कर शास्त्रोंके फलभूत वीतराग परमानन्दरूपी स्वाधीन सुखरसका स्वाद लेता है अर्थात् समतापरिणामको करता है। शास्त्रका असली मायनेमें पठन यही है कि जो वाक्योंका संकेत हो, संदेश हो, उसको अपने व्यावहारिक जीवनमें उतारें।

एक प्रसिद्ध कथानक है कि कौरव पाण्डवोंके गुरुने उन्हें एक पाठ दिया। वे रोज पाठ दिया करते थे। एक पाठ आया गुस्सा न करो। तो उनसे पूछा कि तुम्हें याद है? तो सबने अपना पाठ सुना दिया, गुस्सा न करो, क्रोध न करो। पर जब युधिष्ठिर के सुनाने की बारी आई। गुरुने पूछा कि तुम्हें पाठ याद हो गया? तो कहा कि नहीं याद हुआ। दूसरे दिन फिर गुरुने पूछा युधिष्ठिरसे कि पाठ याद हो गया? तो युधिष्ठिरने कहा कि नहीं याद हुआ। गुरुको गुस्सा आ गया तो दो चार बेंत जड़ दिए। उसके बाद भी युधिष्ठिरको क्षोभ नहीं हुआ, क्योंकि चार पांच दिनोंसे गुस्सा न करनेका अभ्यास कर रहे थे। कहा, गुरुजी अब पाठ याद हो गया। क्या? बस आप जो देख रहे हो। तो असली अध्ययन यही हुआ कि जो जीवनमें उतार कर किया जाता है। जैसे ये जीव हैं तैसे ये जीव हैं। जैसे यह भिन्न हैं तैसे ही ये भिन्न हैं। न इनसे मेरा हित अहित है, न इनसे मेरा हित है। ऐसा जीवनमें उतारा जाये तो यही असली अभ्यास हुआ।

हालांकि गृहस्थीमें सभी प्रकारके प्रबंध करने पड़ते हैं, ठीक है पर २४ घंटेमें ५ मिनट भी तो अपने आपको निर्भार अनुभव करो। थकान तो दूर करलो। जैसे घोड़े बहुत बोझा ढो ढोकर थक जाते हैं, दिनमें एक आध बार जब कि उनकी पीठ खाली होती है तो जमीनपर लोट कर अपनी थकान मिटा लेते हैं, पर यह मोही जीव २४ घंटेमें ५ मिनट भी भारसे हट

कर खाली पीठ रखकर अपने आपमें ही लोट पलोट कर अपनी थकान नहीं मिटाना चाहता तो यह विकल्पोंसे थका हुआ रहता है। थकान मिटानेका उपाय समतापरिणाम है, ममता और आत्मीयताका त्याग है। सो जो मुनि आदरसे समतापरिणामको धारण करते हैं, वे अपने उत्कृष्ट कर्तव्यके फल को पा लेते हैं। ज्यादा विस्तार बढ़ानेसे क्या लाभ है? यही प्रक्रिया समझानेकी और कल्याणकी है। सो हम ज्ञानबलसे समताभावका ही यत्न करें।

सकर्ोंसे मुक्तिका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय उस ही आत्माके होता है जो समतापरिणामको करता है, अन्य जीवोंके नहीं हो सकता, इस बातका अब इस दोहेमें वर्णन करते हैं—

दसणु णाणु चरित्तु तसु जो सम-भाउ करेइ।
इयरहँ एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ ॥४०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र उसीके निश्चयसे होता है जो समतापरिणाम को करता है। स्वभावरहित अन्य जीवों के इनमे से एक भी नहीं होता है। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? निश्चयनयसे निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है—ऐसी रुचिके परिणामको सम्यग्दर्शन कहते हैं। लोकमें उपादेय चीज क्या है? विवरण करके सबके स्वरूपको देख लो, धन वैभव जिसके पीछे आजकल लोग बेतहाशा भाग रहे हैं, केवल धनसचयकी ही दौड़ लगा रहे हैं, उस धनसचयसे क्या भला हो जाता है? और भले की बात तो जाने दो, इस धनसचयके कारण कितनी ही जगह दूसरोंके द्वारा घात हो जाये, अनेक लोग सताने लगे, रात दिन नींद न आए, ऐसी अनेक स्थितियां हो जाती हैं। धन उपादेय चीज नहीं है। यदि विवेक है, ज्ञान है तो यह आत्मा यह तथ्य अगीकार करेगा कि धन वैभव उपादेय वस्तु नहीं है। ज्ञान जैसा आनन्द क्या अच्छे कपडोंमें, शृङ्गारमें या मोही जनोंके बीच बैठकर उनसे यथा तथा बातें सुननेमें आ सकता है? नहीं। ज्ञानका आनन्द शुद्ध आनन्द है, स्वाधीन आनन्द है, अविनाशी आनन्द है। इसे चोर चुरा नहीं सकते, परिवारके लोग बांट नहीं सकते, कोई इसे हर नहीं सकता, इस पर कोई राजाका टैक्स नहीं चल सकता। सर्व आपत्तियोंसे परे है ज्ञानका आनन्द। शुद्ध आत्मतत्त्व ही उपादेय है। इस दिशाकी ओर चलना है।

परिवारजनोंकी बात सोचो तो अज्ञानकी बेहोशीमें ही इन ससारके अनन्त जीवोंमें से दो एक मोही पुरुषोंकी छटनी कर ली जाती है कि यही मेरे सर्वस्व हैं। देखो मोहकी लीला कि जिन्हें आप अपना मानते हैं, उनसे लाखों गुना भले इस लोकमें मनुष्य स्त्री बालक हैं, पर उनकी ओर अनुराग

नहीं जगता है। अनुराग जगता है तो मूढ मोही मलिन प्राणियोंके लिए। यह क्या आत्मा पर कम आपत्ति है? इस आपत्तिको तो देखते नहीं हैं और मनमें जैसा आया स्वच्छन्द होकर जहा चाहे उपयोग लगाये फिरते हैं। कौनसी वस्तु उपादेय है? खूब विचार कर देखो। यह शरीर भी उपादेय नहीं है। इसके ही कारण रोग भूख आदि आते हैं। जब बुढ़ापा आता है तो उठा बैठा भी नहीं जाता, चलते डुलते अगर चोट लग जाये तो हड्डी टूट जाये। सारे जीवनभर तो सुखसे रहनेकी योजना बनायी और बड़ा श्रम किया, किन्तु अब बुढ़ापेमे ऐसी दशाएं होने लगती हैं। यह शरीर क्या उपादेय है? नहीं। मल, मूत्र, रुधिर, खून, पीप आदि कितने ही दुर्गन्धित पदार्थोंसे यह शरीर भरा हुआ है। यह शरीर भी उपादेय नहीं है।

भैया! तो और क्या उपादेय है? किसको पकडा जाये? जिस मन में रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, कल्पनाए उठती हैं, अहकार जगता है, क्या यह मन और ये भाव उपादेय हैं? नहीं। ये तो सतानेके लिए पैदा होते हैं। इन विकारोंसे तो जीव दु खी होता है। दु ख उत्पन्न करने वाला भाव क्या मेरे लिए उपादेय है? नहीं। फिर क्या उपादेय है? सब जगह दृष्टि पसारकर सोच लो। एक निज शुद्धआत्मा ही उपादेय है। अपना जो स्वरूप है, स्वत सिद्ध जो ज्ञानस्वरूप है, वह स्वरूप ही उपादेय है, उसकी ही रुचि होना, उसके ही उन्मुख होना, सो सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान क्या है? ऐसा भेदज्ञान होना कि ये काम क्रोधादिक विकार जो पिशाचकी तरह परिस्थितिमें डालने के लिए लगे हैं, जिनसे हित कुछ नहीं मिलना, केवल विकल्प और सक्लेश ही उत्पन्न होते हैं। यह विकारभाव और यह मैं सहजस्वरूप आत्मा बिल्कुल भिन्न-भिन्नस्वरूप वाले हैं। कैसा हूं यह मैं आत्मा कि जिसमें स्वयमेव अपने ही स्वरूपके कारण अनुपम विलक्षण अलौकिक शुद्ध आनन्द रसका स्वाद भर रहा है। दृष्टि तो करो अपनेमें शुद्ध ज्ञान प्रकाशकी ओर। स्वय ही वहींसे विलक्षण अलौकिक आनन्द झरेगा। यह उत्कृष्ट आनन्द रागद्वेषसे परे है। रागद्वेष रखकर कुछ मौज मिला तो वह मौज क्या है? केवल कष्ट है। जो वीतराग आनन्द है वही आनन्द उपादेय है। वह कैसे उत्पन्न होता है? निज शुद्ध आत्माके सम्वेदन से।

मैं ज्ञानमात्र हू, अन्य किसी रूप नहीं हू। यदि उपयोगमें कोई अन्य अन्यरूप भी आयें तो उनका निषेध करते जाइए, इस रूप मैं नहीं हू। मैं तो शुद्ध सहज ज्ञानमात्र हू—ऐसे अपने इस शुद्धज्ञान स्वरूप आत्मतत्त्वके सम्वेदनसे उत्पन्न हुआ वीतराग आनन्द मधुररससे स्वादमय यह मैं आत्मा

कहां तो ऐसा अलौकिक निर्विकार और कहां ये कटुक रस वाले काम क्रोधादिक विकार। जैसे किसी गाड़ीमें ऊट और गधा दोनों एक साथ जोते जाए तो देखने वाले लोग हंसेंगे कि खुश होंगे? एक बड़ी गाड़ी है, एक तरफ गधा और एक तरफ ऊट का जोतना यह तो बेजोड़ मिलान है। इसी प्रकार एक ओर तो यह आत्मा सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप भगवान है, यदि उसके साथ लगा लिए गए कामक्रोधादिक विकार हैं तो यह बेजोड़ मिलान है। ज्ञानी तो इसे देखकर हस ही देंगे। अज्ञानीको क्या खबर है? वह तो स्वरूप और ज्ञेय दोनोको एकमेक मिला करके अनुभव करता है। ऐसे आत्मस्वरूप और निरन्तर आकुलताओंके उत्पादक कटुक जिनका फल है ऐसे काम क्रोधमें भेदज्ञान बनाना, सोई सम्यग्ज्ञान है।

एकत्वविभक्त आत्माके शुद्धस्वरूपमें अपना उपयोग स्थिर बनाए रहना, आत्मस्वरूपमें स्थिरतासे लीन होना, सो सम्यक्चारित्र है, याने वीतराग शुद्धचारित्र है। यह रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग किसके प्रकट होता है? जो समतापरिणामको करता है, जिसके निर्दोष परमात्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् अनुचरण होता है। जैसा इस आत्मा भगवान्का स्वरूप है उसके अनुकूल अपना उपयोग बनाना इसका नाम है अनुचरण। इस प्रकार जो समतापरिणामको करता है उसके ही यह रत्नत्रय होता है। इस समतापरिणाममें वीतराग निर्विकल्प परम शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी भावना होती है। चाहे ज्ञाता द्रष्टा कहो और चाहे समतापरिणाम कहो, दोनो एक ही रूप हैं। केवल जानना देखना वहीं होता है जहा रागद्वेषका पक्ष नहीं है। जहा राग द्वेषका पक्ष नहीं है उसको ही समतापरिणाम कहते हैं। ऐसा ज्ञाता द्रष्टा रहने रूप, वीतराग निर्विकल्प परमसमताकी स्थिति रूप, सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप समतापरिणाम वीतराग श्रमणके होता है। हम आप सबको प्रयत्न करके रागद्वेष रहित स्थिति ही बनानी चाहिए।

अब इसके बाद यह निश्चय कर रहे हैं कि जिस समय ज्ञानी जीव कषायको शात करता है उस समय तो यह सयमी होता है, और काम क्रोधादिक विषयोंसे संगत हुआ तो फिर यह असयमी हो जाता है।

जावइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ।
होइ कसायह वसि गयउ जीउ असजदु सोइ॥ ४१॥

जब तक यह ज्ञानी जीव शुद्ध भावोंको प्राप्त होता है तब तक यह सयमी कहलाता है। और क्रोधादिक कषायोंके वशमें हुआ कि वही जीव असयमी हो जाता है। वह उपशम भाव क्या है? जिसमें ठहरने पर यह ज्ञानी सयमी कहलाता है। यह है उपशम अनाकुलतारूप परिणाम। कषाय

शांत हो गये, इसकी पहिचान क्या है कि इस पुरुषमे आकुलता नहीं रही। अनाकुलता है तो शातिका अनुमान होता है। कषाय आकुलतावोंका ही कारण होता है। जिसके आकुलता पायी जाय उसके निर्णय कर लो कि इसके कषाय भाव है। यह अनाकुलतारूप अथवा अनाकुलता जिसका फल है ऐसी शांति कैसे मिलती है? निज शुद्ध आत्माकी भावना करनेसे मिलती है। इस उपशमपरिणाममें जब तक ज्ञानी रहता है तब तक वह परमार्थसे सयमी है और जैसे ही उससे विपरीत बन जाता है अर्थात् परम आकुलता के उत्पन्न करने वाले काम क्रोधादिक विकारोंमें परिणत हो जाता है वही जीव असयमी हो जाता है।

यहा इस उपदेश द्वारा चारित्रकी महिमा गायी है। चारित्र कषाय-रहित परिणामका नाम है। कषायके वशमे वह जीव असंयमी हो गया और जिस कालमे कषायको शान्त किया उस कालमे यह सयमी हो गया। जिनको दुःख न पाना हो, उनको करने योग्य उपाय केवल एक ही है कि कषाय मत करो। जैसे लड़कों-लड़कोंमें लड़ाई हो जाय तो अपने-अपने बच्चोंको डाटा जाय तब तो व्यवस्था शांतिकी बनती है। जिस पर अधिकार लोकमे माना गया है उसको ही डाटे सुधारे, तब तो शातिकी व्यवस्था बनती है। जिस पर अधिकार नहीं है उस दूसरेको मारे पीटे डाटे तो वहा विग्रह बढ़ता ही है। हमारा आपका अपने-अपने मन पर अधिकार हो सकता है, दूसरे पर अधिकार नहीं हो सकता है। अपने मनको दबायें, डाटें। जो भी सोचते है यदि विपरीत है तो उसे न होने दें। तब तो शांतिकी व्यवस्था बन सकती है। और चाहें कि वाह हमारा तो पुण्यका उदय है, ठाठ है, हम जो चाहे सो ही होना चाहिए तो हम आप जैसे हजारों लाखों अनेक पड़े हुए हैं, और अपनेसे भी अधिक पुण्यवान्। जो हठ हमारी दूसरोंके खिलाफ पडती है, क्या उनका कुछ भी उदय नहीं है? हमारे मनका हठ क्या चल जायगा? अरे हठ करनेसे तो पुण्य घटता है, पाप बढता है।

अब यह बतलाते हैं कि जिससे मनमें कषाय होता है। किससे होता है कषाय? मोहसे। किसी वस्तुमें मोह हो तो कषाय होगा। जिस मोहके कारण कषाय बनता है उस मोहको त्यागो, ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं:—

जेण कषाय हवति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु।
मोह-कसाय-विवज्जयउ पर पावहि सम-बोहु ॥ ४२ ॥

हे जीव! जिस मोहसे अथवा मोह करने वाली वस्तुसे मनमें कषाय होता है उस मोहको छोड़ो, उस पदार्थको छोड़ो। मोह और कषायसे रहित हुआ जीव ही नियमसे रागद्वेषरहित ज्ञानको प्राप्त करता है। ससारमे साग

है रागद्वेषरहित ज्ञान। छहढालामें मंगलाचरणमें यह बताया गया है "तीन भुवनमें सार वीतराग विज्ञानता।" समस्त विश्वमें सारभूत चीज रागद्वेषरहित ज्ञान है। सुखी होना है तो रागद्वेषरहित ज्ञानका उपार्जन करना चाहिए।

यह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? मोह छोड़नेसे। जिस पदार्थमें मोह लगा है उस पदार्थको छोड़ो तो यह उत्कृष्ट ज्ञानज्योति प्रकट होगी। कहां तो मोहरहित निज शुद्ध आत्मतत्त्व जो कि सहज है– स्वयं है, जिसका ध्यान करके योगीजन कर्मकलंकको जला डालते हैं, कहां तो ऐसा निर्मल निज शुद्ध आत्मतत्त्व और कहां उसके विपरीत संसारमें भटकने वाले व्यर्थ और अनर्थरूपके मोहपरिणाम। इन मोहपरिणामोंको छोड़ो। कैसे छोड़े जायेंगे ये? मोहरहित निज शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अध्ययन कर लिया जावे तो यह मोहपरिणाम छूट जायगा। जो भी कषाय जगता हो उस कषायके छोड़नेका उपाय क्या है? उस कषायसे रहित शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान कर लिया जावे। दुःखदायी यह कषायपरिणति है। किसके लिए इतना बेसुध मरा जाय? यह जीव किसी परवस्तुमें कर ही क्या सकता है? जो स्वाधीन बात है, जिस कार्यके करनेमें सफल हो सकते हैं, उससे तो पीठ मोड़े हुए हैं, उस ही ओर मुंह करके बेतहाशा भागे जा रहे हैं।

भैया! लकड़हारा भी तो एक मनका गट्ठा सिर पर लादे हुए श्रमसे थका है, तो वह किसी जगह सिरसे बोझ उतार दस मिनट आराम भी तो कर लेता है, पर यह तो लकड़हारे घसियारेसे भी गया बीता है। इसकी ऐसी स्थिति है कि रात दिनके २४ घंटेमें व्यर्थ और अनर्थके विकल्पजालोंके भारको दो मिनटको भी अलग नहीं करना चाहता। जरासा भी विश्राम लेना नहीं चाहता। विकल्पजालसे थकता है, दुःखी होता है, फिर भी तारीफ यह है कि उस पर अपना बड़प्पन समझता है। यह मोह नींदका बस स्वप्न है। स्वप्नमें देखी हुई बात सही लगती है, पर सही वहां कुछ नहीं है। नींद खुलने पर याने जगने पर ठीक हाल मालूम होता है कि अरे! वह तो सारा स्वप्न ही था, पासमें कुछ नहीं है। तो इस प्रकार यह मोहकी कल्पनाकी नींदमें यह वैभव, परिवार, देश, समाज, लोग ये सब सही दिख रहे हैं, किन्तु जब मोहकी नींद टूटती है, ज्ञानका नेत्र जगता है, वस्तुस्वरूपका सही भान होता है तब विदित होता है कि अहो! यहां तो कुछ भी सार नहीं है, कुछ भी हित नहीं है। लेकिन ये जीव इनके विकल्पोंमें ही अपना उपयोग बसाये हुए हैं। दो मिनट भी अपनेको भाररहित केवल शुद्ध ज्ञाताद्रष्टामात्र नहीं सोचना चाहता है। इसी कारण दुःखी भी होता जाता, झुंझलाता जाता

और यहां ही अनुराग बढ़ाता जाता है।

भैया ! मोहमें ऐसी उन्मत्त जैसी स्थिति हो जाती है, ऐसे मोहको छोड़ो, जिस वस्तुसे मोह उत्पन्न होता है उस वस्तुको छोड़ो, ये निष्काम परमात्मतत्त्वके विनाशक क्रोधादिक भाव मोहके आधार पर ही होते हैं। फिर मोह विषयका अभाव कर लिया जाय तो रागरहित विशुद्ध ज्ञान होता है। वह रागद्वेषरहित ज्ञान ही सर्वप्रकारसे उपादेय है। उस वस्तुको मनसे, वचनसे, कायसे त्यागना चाहिए जिस वस्तुके कारण कषायरूपी अग्नि उत्पन्न होती है और उस संगको, उस वातावरणको ग्रहण करना चाहिए जिससे कषाय शांत होता है। ये विषयादिक समस्तसामग्री स्पर्शनइन्द्रियके विषय के साधनभूत सामग्री, रसनाइन्द्रियके विषयभूत साधन सामग्री, घ्राण, चक्षु, कर्ण और मनके विषयभूत सामग्री, ये ही सर्वसमागम, ये ही समस्त पदार्थ और मिथ्यादृष्टी पुरुषोंका संग, ये ही सब मोह कषायको उत्पन्न करते हैं और उन्हीं परिणामोंसे मनमें कषायरूपी अग्नि दहकती रहती है।

भैया ! इस कुसंगतिको छोड़ना चाहिए और सत्संगतिमें आना चाहिए यही पुरुषार्थ कषायोंकी उपशान्ति करता है। इन शुभ सामग्रियोंमें मुख्य सामग्री है—देव, शास्त्र और गुरु। जिनके द्वारा स्वरूपके अन्तरकी रुचि प्रकट होती है। परिणाम शांत होते हैं। जिस उपायसे शांति मिले उसही उपायका जिनशास्त्रोंमे वर्णन है। उन शास्त्रोंके पठन, मननसे जिनकी प्रीति होती है वे ही पुरुष कषायको शांत कर सकते हैं। ऐसे ही परमात्मतत्त्वके विकासमें यत्न करने वाले जो सतजन हैं, अथवा गुरुदेव है, ऐसे गुरुवोंकी संगति कषायको शांत कर देती है। अतः सत्संगतिका तो आदर करना चाहिए और विषयकषायोंसे लिप्त पुरुषोंका संग दूर करना चाहिए। इसी विधिसे हम अपने सच्चे स्वाधीन सुखको प्राप्त कर सकते हैं।

अब हेय और उपादेय तत्त्वको जानकर परम उपशम भावमें ठहर कर जिन ज्ञानियोंकी शुद्ध आत्मामें रति होती है वे ही ज्ञानी संत सुखी होते हैं। यह वर्णन यहां करते हैं।

तत्तातत्त मुणेवि मणि जे थक्का समभावि।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जह रइ अप्पसहावि ॥४३॥

उपासना करने योग्य तत्त्वको और त्यागने योग्य अतत्त्वको मनमें जानकर जो पुरुष समताभावमें स्थित होता है, जिसकी लगन आत्मानुभवमें होती है वह ही जीव इस संसारमें सुखी है। ऐसा जो करता है वह वीतराग स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानी है। उस स्थितिमें रागद्वेष नहीं है और मात्र आत्मा का ही संवेदन होता है। आत्माका संवेदन प्रत्यक्षमें ज्ञान कहलाता है। परोक्ष

और ज्ञानका क्या अर्थ है? जिस ज्ञान की उत्पत्तिमें इन्द्रियं और मन निमित्त होता है वह तो परोक्ष ज्ञान है और जिस ज्ञानकी उत्पत्ति केवल आत्मासे ही होती है वह प्रत्यक्ष स्वसम्वेदन इन्द्रिय और मनसे नहीं होता। अगर वह इन्द्रियसे हो तो इन्द्रियका ही विषय जाना जाये। मनसे हो तो निर्विकल्प उपयोग परिचयमें आवे, पर वहां स्वच्छ ज्ञानमात्र अनुभवमें आता है। इस कारण वह स्वसम्वेदन ज्ञानी प्रत्यक्षज्ञानी कहलाता है। इसके आत्मतत्त्वका भावरूपमें साक्षात्कार हो जाता है, द्रव्यपिण्डरूपसे इस स्वसम्वेदन का साक्षात्कार नहीं होता। वह तो केवलज्ञानका विषय है स्वभावका स्वभावरूपमें भावरूप अनुभव होना भावका साक्षातकार है। ऐसा जीव परम उपशम परिणाममें स्थित होता है।

यद्यपि व्यवहारनयसे यह आत्मा अनादि बंधनमें बद्ध ठहर रहा है तो भी शुद्ध निश्चयसे सर्वदोषोंसे रहित है। न वहा प्रकृति है, न स्थिति है, न अनुभाव है, न प्रदेश है। जैसे रस्सीसे बंधी हुई गायको इस दृष्टिसे भी देख सकते है कि यह गाय गिरमें से बंधी हुई है और इस दृष्टिसे भी देख सकते हैं कि यह गाय है। बस वहां गाय ही गाय दिखती है, यह गाय बंधी है यह नहीं दिखता। अथवा इसके साथ गिरमाका सयोग है यह नहीं दिखता। सो व्यवहारसे यह जीव अनादिसे बद्ध ठहर रहा है, किन्तु शुद्ध निश्चयसे सर्वप्रकारके बंधनसे रहित है। इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनयसे यह जीव प्रकृत शुभ अशुभ-क्रियावोंके फलका कर्ता भोक्ता है। सो यह आत्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे अपने आत्मीय परम आनन्दरसका ही भोक्ता है। यह आनन्द निज शुद्धआत्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न होता है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सम्बन्ध बताना व्यवहार है और एक द्रव्यका उसही द्रव्यमें उत्पन्न हुए विकारभावोंको बताना अशुद्धनिश्चयनय है। एक ही द्रव्यमें उसही द्रव्यकी शुद्धपरिणतिको देखना शुद्धनिश्चयनय है। एक ही द्रव्यके, एक ही स्वभावको उसी अखण्डमें देखना वहां परिणतिकी भी दृष्टि नहीं होती, किन्तु अनादि अनन्त अहेतुक पारिणामिकभाव ही दृष्टिगत हों, उसे परमशुद्ध निश्चयनय कहते हैं। यह जीव व्यवहारसे पुद्गलकर्म के फलको भोगता है। निश्चयदृष्टिसे, रागद्वेषरहित आत्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग आनन्दरस को भोगता है और परमशुद्ध निश्चयनयसे यह जीव किसीका भोक्ता नहीं है, अभोक्ता है।

यद्यपि व्यवहारसे कर्मोंके क्षयके बाद आत्मा मोक्षका भाजन होता है तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावको ग्रहण करने वाले शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे यह सदा ही मुक्त है। जैसे अभी कर्ता और भोक्ताके बारेमें नय विभाग

विषय है वैसे ही यह मुक्तिके सम्बन्धमें नयविभाग कहते हैं। जीवका मोक्ष होना है। इसमें जैसे बन्धनमें दो द्रव्योंपर दृष्टि डाले बिना ध्यानमें नहीं आता इसी प्रकार छूटना दो द्रव्योंपर दृष्टि डाले बिना नहीं ज्ञानमें आता। कोई कहे कि जीव बधा है, तो प्रश्न होगा कि किससे बधा है ? उत्तरमें उस परद्रव्यका नाम लिया जायेगा। बस व्यवहारनय हो गया। इसी प्रकार कहा जाये कि जीव छूट गया, तो प्रश्न होगा कि किससे छूट गया ? उत्तरमें कहा जायेगा कि कर्मोंसे छूट गया। लो यह व्यवहारनयका दर्शन हो गया। यद्यपि व्यवहारनयसे यह जीव कर्मक्षयके बाद मोक्षका पात्र होता है तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावको ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे यह तो सदासे ही निजस्वरूप है अर्थात् सदा मुक्त है। आत्महितके चाहने वाले ज्ञानी संतोंने आत्माके बारेमें, हितके बारेमें जो खोजें की हैं, वे खोजें किसीके तो यथार्थ पूर्णसिद्ध हैं। जिसने कि नयविभागका ही आश्रय करके विषयको लिया है, किन्तु उनका विषय अयथार्थ हो जाता है जिसने नय विभागका आश्रय नहीं लिया। बात सच है पर कहनेमें तो एक नयकी ही बात आयेगी। यदि उसकी ही हठ करलें कि यही सच है और दूसरी बात सच नहीं है तो अयथार्थ हो गया। इसको भी छोड़ दिया और सर्वदृष्टियोंसे सच है जान लिया तो यथार्थ हो गया। अपेक्षा लगा दी जाय तो वह सच हो जाता है।

एक पुरुषके बारेमें जो कि किसी का बाप है, वह किसीका पुत्र भी है, उसके बारेमें एकने वर्णन किया कि अब यह पिता बन गया, यह बाप है। दृष्टि तो यह थी कि अमुक बच्चेका बाप है, पर वह उसको अमुकका बाप है ऐसी दृष्टि न लगाकर यह ही हठ कर गया कि यह तो बाप ही है। किसका ? सभीका। तो इसमें लड़ाई हो जायेगी कि नहीं। बाप है यह बात सच है, पर सर्वथा बाप ही है, बस अयथार्थ हो गया। इसी प्रकार आत्माके बारेमें जिसने जो कुछ निरखा है ठीक है उनकी बात। कोई सिद्धान्त कहता है कि ईश्वर सदा मुक्त है अर्थात् सदाशिव है। महेश्वरको सदाशिव माना है। ईश्वरका सदासे मुक्त मान लेना गलत नहीं है। सदा शिव है ईश्वर अर्थात् अनादिसे मुक्त है। स्वरूपचतुष्टयको निरखो, एक महेश्वर ही क्या समस्त पदार्थ सदा मुक्त हैं, सदाशिव हैं। और इसलिए यह भी सिद्धान्त चला कि समस्त विश्व सदाशिवमय है, सदामुक्त है, पर यह बात स्वभावको लक्ष्यमें लेकर बनानेकी थी किन्तु इसका प्रयोग सभीको लक्ष्य बनाकर किया जाये तो वह असत्य होगा। इस ही बातको नयविभागपूर्वक यहा बतला रहे हैं कि यद्यपि व्यवहारसे कर्मक्षयके अनन्तर यह जीव मोक्षका भाजक होता है। मोक्षका

पात्र होता है, मुक्त होना है तो भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे जो शुद्ध पारिणामिक परमभावको ग्रहण करने वाली है, ऐसी शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे यह जीव आत्मा सदा मुक्त ही है।

पारिणामिक भावका क्या अर्थ है कि जिसका परिणाम प्रयोजन हो, स्वयं तो निश्चल है, स्वयं तो चल नहीं जाता, चेतनसे अचेतन नहीं, अचेतनसे चेतन नहीं होता, स्वयं तो अपरिणामी है, पर निरन्तर परिणमते हुए रहना उसका प्रयोजन है। कोई किसी वस्तुसे पूछे कि तुम क्यों हो जी, तुम्हारे होनेका क्या मतलब है, तुम किस लिए एग्जिस्ट करते हो? तुम्हें तो कुछ आवश्यकता नहीं, तुम्हारे एग्जिस्ट करनेका क्या प्रयोजन है? उनका उत्तर है हम मोडीफाइ करें हम इसलिए हैं, सर्वत्र हम परिणमते रहनेके लिए हैं हमारे होनेका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। सभी वस्तुवोंकी ओरसे यह उत्तर मिलेगा। तो सब वस्तुयें हैं और अपनेमें ही परिणमती हैं। दूसरे पदार्थोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी ग्रहण नहीं कोई दूसरा करता है। तो सभी द्रव्य सदामुक्त हैं।

यद्यपि व्यवहारनयसे यह जीव इन्द्रियजनित ज्ञान और दर्शनसे सहित है तो भी निश्चयसे समस्त सकल विमल केवल ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला है। वर्तमान हालतमें बताया जा रहा है कि यह जीव व्यवहारसे इन्द्रियजनित ज्ञान और दर्शन करके सहित है, किन्तु इस ही के अन्दर निरख तो इसमें समस्त विश्वको जान सकने वाले केवल ज्ञानका और केवल दर्शनका स्वभाव है। जैसे मृदंग शब्दकी उत्पत्तिके लिए हाथके आघातकी अपेक्षा होती है, पर हाथका आघात हो जाने पर मृदंग अपने शब्दको व्यक्त करनेके लिए किसीकी अपेक्षा नहीं करता है। उत्पत्ति और उद्भूति इन दोनोंका अन्तर देखना कि उत्पत्तिमें तो निमित्त होता है, पर उद्भूतिमें निमित्तकी अब अपेक्षा नहीं है। हाथका आघात होनेके बाद मृदंग किसी की अपेक्षा नहीं करता। जैसी उसकी योग्यता उस परिणमनके उपयोगसे होती है वह परिणमन चला जा रहा है। इसी प्रकार इन परोक्ष ज्ञानियोंके भी ज्ञानोत्पादनमें तो इन्द्रिय व मनकी अपेक्षा होती है, किन्तु ज्ञप्तिमें किसीकी अपेक्षा नहीं होती, सो यद्यपि व्यवहारनयसे यह आत्मतत्त्व इन्द्रियजनित ज्ञानदर्शन को करता है तो भी निश्चयसे केवल ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला है। जो ऐसी समस्त शक्तिकी दृष्टि करता है उसके ही यह शक्ति पूर्णतया प्रकट हो सकती है। जो अपनी शक्तिकी आराधना नहीं करता उसकी शक्तिका पूर्ण विकास नहीं हो सकता है। शक्तिकी उपासना करना यह अत्यन्त उपादेय तत्त्व है।

भैया! शक्तिकी उपासनाका यह क्रम बहुत दिन तक चला होगा,

पश्चात आत्म किस स्वरूप वाला है ? यह उपयोगमें जब नहीं रह सकता और उपासना तो करनी ही चाहिए, तब वह शक्ति देवी देवताके रूपमें मान्य होने लगी। उस शक्तिका नाम दुर्गा, काली, भवानी, सरस्वती आदिके रूपमें माना जाने लगा। पर यह सब शक्ति धुन वालोंकी और शक्तिके अपरिचय वालोंकी कलाका एक मूर्तिरूप है। यही आत्मशक्ति दुर्गा कहलाती है। 'दु खेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा' जो बड़ी कठिनाईसे प्राप्त की जाय उसको दुर्गा कहते हैं। यह आत्मशक्ति बड़ी दुर्गम्य है। इसकी जानकारीके लिए इसकी रुचि वाले पुरुष सर्वस्व त्यागे, अध्ययन करें, मनन करें, तप करें, त्याग करें, ये सब चित्शक्तिकी उपलब्धिके लिए करें, यही है आराध्य देवी। इस आत्मशक्तिमें अनन्त विशेषताए हैं। इस आत्म-शक्तिके शुद्ध विकाससे बड़ी शांति उत्पन्न होती है और विकारोंका, कर्मों का सहार हो जाना है। इस आत्मशक्तिके दो रूप हो गये– सहारकरूप और निधिविस्तारकरूप। जो इस निज दुर्गाका सहारकरूप है उसका तो नाम है काली, और इसका जो निधिविस्तारकरूप है उसका नाम सरस्वती है।

इस ज्ञानशक्तिके स्वभाव वाले, आत्मतत्त्वकी आराधना करने वाले पुरुष दो फलोंको प्राप्त करते हैं। एक तो सर्वप्रकारकी बाधावोंका संहार करते हैं और दूसरे शांतिका विस्तार करते हैं। शातिका विस्तार भी इतना विशाल है इस शक्तिके आलम्बनसे कि जिसकी कोई सीमा नहीं है और संहारकका भी इतना विशाल रूप है कि जैसे लोकमें कहते हैं कि जड़मूलसे खो दिया। विकारोंको, कर्मोंको जडमूलसे खो दिया, जडमूलसे मिटा दिया। ऐसा रूप लेनेको नरकपाल या मुण्डमालाका श्रृंगार करके बताया है, जिसके सहारिणी मूर्ति रूप देखनेसे ऐसा दृश्य सामने आता कि अहो! संहार करने वाली यह देवी है। जिसे मुण्डमाला ही पहिननेका शौक होता है और हाथमें मुण्डमाला लिए है, खप्परमें खून भरे है, उसका बड़ा सहार का रूप विदित होता है। यह रूप पहिले तो कुछ समय तक कवियोंकी कल्पना और उनका अलकार बना रहा, किस विषयका कि यह आत्मशक्ति ऐसी सहारकशक्ति है कि परतत्त्वोंका, दुष्टभावोंका, विकारोंका यह विनाश कर देती है, उनके जडमूलको उखाड देती है। इस तत्त्वको बतानेका उपाय एक इस प्रकारकी मूर्ति द्वारा दर्शन करानेका रहा, पर तथ्यसे तो लोग अप-रिचित रह गए और चाहा अपने घर कुटुम्ब वगैरहकी शाति और शान्ति मिलती है इस शक्तिकी उपासनासे और इस शक्तिसे अपरिचित रहे। जो शक्ति मूर्तिके रूपमें लोगोंको दृष्ट हो गई उनकी ही उपासनामें जुट गए। इस

तरहसे अपनी दृष्टि हटायी और परके विरूप और उन्मार्गमें अपनी उपासना लगा दी, यह विस्मृत हो गया कि यह जीव स्वयं ज्ञानदर्शनस्वभावी है।

यह जीव यद्यपि व्यवहारसे अपने पाये हुए देहके प्रमाण है तो भी निश्चयसे लोकाकाशके प्रमाण असख्यात प्रदेशी है। इस जीवका तेरहवें गुणस्थानमें केवली समुद्घातके समय लोकपूर्ण अवस्थामें विशाल विस्तार होता है। उस समय लोकाकाशमें एक एक प्रदेश पर आत्माका एक-एक प्रदेश स्थित होता है। कितने बडे जीवस्वरूप प्रदेशमें लोकाकाशके प्रमाण असख्यात प्रदेश न होते तो इतना विशाल नहीं हो सकता था। जो जीव अभव्य हैं, जिनके कभी केवल ज्ञान नहीं होता है और न इतने लोकाकाश प्रमाण व्यापनेकी स्थिति होती है उन जीवोंके भी उतने ही असंख्यात प्रदेश हैं। द्रव्य पदार्थ वही है। इस तरह क्षेत्रकी अपेक्षासे इस जीवके नयविभाग का विवरण किया।

यद्यपि व्यवहारनयसे यह जीव सिकुड़ने और फैलनेकी दशासे सहित है तो भी मुक्त अवस्थामें सिकुडने और फैलनेकी अवस्थासे रहित है। अंतिम शरीर प्रमाण प्रदेश है। यह जीव भावमात्र है और भाव प्रदेश बिना होता नहीं। किसमें भाव हो? सो यह ज्ञानभाव प्रदेश ही में रहता है वह है असख्यात प्रदेश। पर इस जीवका संकोच और विस्तार होना रहता है। सकोच हुआ तो अगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है, मात्र क्षेत्रमें रह जायेगा और विस्तार हो तो लोकाकाशके प्रमाण असख्यात प्रदेश एक-एक करके फैल जायेंगे। यह बात है व्यवहारनयसे, न उसमें सकोच है, न विस्तार है। ऐसी स्थिति बनती है मुक्त अवस्थामें। मुक्त अवस्थामें यह मुक्त परमात्मा अंतिम शरीरके प्रमाणप्रदेश वाला है। जो जीव जिस शरीरसे मोक्ष गया, शरीर छूटनेके बाद भी उतने शरीर प्रमाण यह लोकके अंतमें ठहरता है।

सिद्ध जीव लोकके अंतमें तो इसलिए ठहरेगा कि उसके आगे गतिका निमित्तभूत धर्मास्तिकाय द्रव्य नहीं है। यद्यपि वहा सिद्ध अपने ही प्रदेशोंसे ठहरते हैं, पर यहां ही क्यों अपनी परिणतिसे न ठहरेंगे? वे तो रागद्वेषरहित है, यहीं ठहर जाते अपने गांवके पासमें। वहा क्यों चले गए? तो जीवका ऊर्द्धगमन स्वभाव है। जैसे मिट्टीसे लिपटी हुई तूमडी पानीमें डाल दे तो जब तक उसमें कीचड़का सबन्ध है तब तक तो तूमडी नीचे रहती है और वह कीचडसे जब धुल जाती है, केवल तूमडी रह जाती है तो वह स्वभावसे ही ऊपरकी ओर उठ जाती है। इसी प्रकार इस जीवमें ऊर्द्धगमनका स्वभाव है, सो ऊर्द्धगमन स्वभावके कारण कर्मकलकसे मुक्त होने पर एकदम ऊपर ठहर जाता है, पर परलोकके अंतमें क्यों ठहर गया? इससे आगे निमित्त-

मुक्त धर्मास्तिकाय नहीं है ? अच्छा यह तो ठीक है, किन्तु यह अन्तिम देह प्रमाण ही क्यों रह गया ? इसका समाधान यह है कि कर्मोंसे मुक्त होनेके बाद आत्मा छोटा बन जावे, इसका कोई कारण नहीं रहा । आत्मा बड़ा बन जावे इसका भी कोई कारण नहीं रहा । क्योंकि संकोच और विस्तार कर्मोदयके निमित्तसे होता है । कर्मोंका क्षय हो गया तो अब संकोच और विस्तार भी नहीं होता । सो यह जीव मुक्त अवस्थामें संकोच और विस्तारसे रहित अन्तिम शरीर प्रमाण होता है । अब आगे और बताया जायेगा ।

जीवके सम्बन्धमें व्यवहार और निश्चयनय—इन दोनों दृष्टियोंसे पृथक् वर्णन चल रहा है । यह जीव यद्यपि व्यवहारनयसे संसार अवस्थासे युक्त है तो भी द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव निज शुद्ध आत्मद्रव्य है । सो उत्पाद व्यय ध्रौव्य है, भिन्न भिन्न धर्म और भिन्न भिन्न पर्यायोंसे देखना व्यवहारनयका काम है । इसलिए यद्यपि जीवमें संसारावस्था अशुद्धता होना गलत नहीं है किन्तु भिन्न-भिन्न रूपसे वस्तुको पकड़ा, इस कारणसे यह व्यवहारनयका सिद्धान्त है । पर द्रव्यार्थिकनयसे देखा तो नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभाव है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय ध्रुव और अभेदको विषय करता है । ऐसे निज शुद्ध आत्मद्रव्यको व्यवहारनयसे पहिचान कर तब क्या करें कि ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्यको पहिले जानकर और फिर उससे विलक्षण परद्रव्य हैं ऐसा निश्चय कर, परसे हटकर निज ज्ञायकस्वभावमें स्थिर होना है । यहाँ एक उत्तम संकेत दिया गया है कि पहिले निजको जानकर, फिर परद्रव्योंका निश्चय करे, क्योंकि पहिले परद्रव्योंकी पहिचान नहीं होती है कि पहिले पर जान जायें, फिर परसे जो रहित है वह मैं हूँ—ऐसा पहिचानें । पहिले निज जाना जाता है तब समझमें आता है कि जो निज नहीं है वह सब पर है । तो पहिले निज शुद्धात्मद्रव्यको जान करके और उससे विलक्षण परद्रव्यको जान करके करने योग्य कार्य क्या है कि ऐसे शुद्धज्ञायकस्वरूप आत्मद्रव्यमें रत होना ।

जगतमें कितनी ही प्रकारसे आनन्द यह जीव मानता है, पर सब आनन्दोंकी खोज करें तो संसारके समस्त आनन्दोंमें खेद भरे हुए हैं । खाने पीनेका आनन्द, अपनी पोजीशन लोगोंको रखनेका आनन्द, परिवार मानने का आनन्द, ये सब विडम्बनाएँ ही हैं । किसी आनन्दमें कोई तत्त्व नहीं है । एक ज्ञानसुधारस का पान हो तो शुद्ध निर्मल आनन्द वहाँ ही प्रकट होता है । यह निज शुद्ध आत्मतत्त्व कैसा है ? वीतराग चिदानन्द स्वभाव वाला है । यह स्वभाव किस प्रकारसे निर्मित है याने सद्भूत है ? समस्त रागादिक विकल्पोंके त्यागरूपसे यह सत् है । इसमें स्वरसतः कोई विकार नहीं है ।

दर्पणमें हमारा फोटो आ जाता है किन्तु दर्पणका स्वभाव फोटो है ही नहीं, स्वरसत: यद्यपि दर्पण है। दर्पण का प्रतिबिम्बरूप परिणमन परद्रव्योंकी ही सन्निधि निमित्त से है। प्रतिबिम्ब दर्पण सत्में है, पर दर्पण उस सत्के कारण नहीं है। इसी प्रकार आत्मसत्‌में विकार है, पर आत्मसत्‌के कारण विकार नहीं है, ऐसे निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्वमें जो पुरुष रत होते हैं वे पुरुष धन्य हैं।

भैया! शुद्ध अनुभव की स्थिति पानेके लिए कुछ कर्त्तव्य हैं— सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य तो ज्ञानमें परिपूर्ण होना और कहीं एकान्तस्थानमें परनिरालम्ब होकर ज्ञानसुधारसका पान करना है। ज्ञान न्य तो एकांतमें घबड़ा जायेगा उसे तो परावलम्बन चाहिए। वह अज्ञानी एकांतमें न रह सकेगा, एकानमें तो ज्ञानी ही रह सकेगा। और ज्ञानी होने पर भी कर्मोंके विपाक साथ चल रहे हैं और वे नोकर्मोंका आश्रय पाकर अपना फल देते हैं। तो नोकर्मका आश्रय छूटता है एकांतमें पहुचनेसे, क्योंकि उसके ऐसी योग्यता है कि ढुलक जाये तो ढुलक जाये और सुधर जाये तो सुधर जाये। ऐसी स्थितिमें नोकर्म का आश्रय मिटानेके लिए एकांतका निवास उसे योग्य है। इतना न हो सके तो फिर सत्संगति बनाओ। लोगोंमें रहे तो मोहियोंमें कषायवानोंमें न रहे। अधिक संग होना चाहिए ज्ञानी विरक्त पुरुषोंका, जिससे आत्मोन्मुखताकी प्रेरणा मिले। बहिरात्मा इस परमात्मतत्त्वको बरबाद कर देती है। नहीं तो और क्या है जीवको जो अपनी ओर नहीं झुकता, बाह्यपदार्थोंकी ओर झुकता है, बस यही सब क्लेशोंकी जड़ है। यह आत्मा अनादिकालसे कर्मोंसे बधा है। जब उन कर्मोंका बध है तो बात क्या हुई कि कर्मोंके विपाकको भोगता है। ज्ञान होने पर उन कर्मोंका क्षय होता है।

कर्म होते हैं तीन तरहके—द्रव्यकर्म, भावकर्म और ज्ञप्तिपरिवर्तनकर्म। इन तीनों कर्मोंके क्षयसे मोक्ष प्राप्त होता है। द्रव्यकर्म तो ज्ञानावरणादिक हैं, भावकर्म रागादिक हैं और ज्ञप्तिपरिवर्तन कर्म है ज्ञानका बदलना एक जगह स्थिर नहीं रह सकते। ये तीनों प्रकारकी क्रिया कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तो पाप धुलता है। अथवा कर्म दो ही हैं—भावकर्म और ज्ञप्तिपरिवर्तन कर्म। द्रव्यकर्म तो पृथक् है, पुद्गल है, वह आत्माका कर्म कैसे हो सकता है? आत्मामें जो परिणमन हुआ वही आत्माका कर्म है। रागादिक विकार आत्माके कर्म हैं और रागादिक विकार नष्ट हो जाने पर भी कुछ समय तक ज्ञप्तिपरिवर्तन बना रहता है। वहा का ज्ञप्तिपरिवर्तन मोहनीय कर्मके उदय से नहीं होता। वह ग्यारहवें गुणस्थानमें होता है और बारहवें गुणस्थानमें भी पूर्वकालमें यह ज्ञप्तिपरिवर्तन होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें इसका क्षय

नहीं है। बारहवें में इन कर्मोंके क्षयसे जीव मोक्षका अधिकारी हो जाता है। अब यह कर्मरहित है।

आत्मा जाननहार है, द्रष्टा है, अपने देह प्रमाण है, उपसंहार और विस्तारका इसमे धर्म है। उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है, अपने चतुष्टयरूप है। ऐसे जब अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरणमें आते हैं तो साध्यकी सिद्धि होती है। सो नयविभागसे तो जीवको जानते हैं, पर जान करके ऐसी जगह उपयोगी होते हैं कि सब नयविभाग छूट जाये, फिर न व्यवहार का विकल्प रहे, न निश्चयका विकल्प रहे। ऐसी योग्यता वाले ज्ञानी संत समतापरिणामको करते है।

अब जो यह जीव उपशमभावको करता है उसकी निन्दा द्वारा स्तुति करते हैं, अर्थात् समतापरिणाम वालेका स्तवन करते हैं। जो सुननेमें आपको ऐसा लगेगा कि यह तो निन्दा की जा रही है और भरी है उसमें स्तुति।

विण्णिवि दोस हवंति तसु जो समभाउ करेइ।

बन्धु जि णिहणइ अप्पणउ अणु जगु गहिलु करेइ ॥ ८४ ॥

जो साधु समतापरिणामको करता है, उस साधुमें दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं। क्या? एक तो अपने बन्धुको नष्ट कर देता है और दूसरे जगत्के प्राणियोंको पागल बना देता है। अब की तो जा रही है स्तुति, पर सुननेमें लग रहा होगा कि निन्दा की जा रही है। जो समतापरिणामको करते हैं, वे बन्धुको नष्ट करते हैं। बन्धु शब्द प्राकृतमें दो अर्थ रखता है। बन्धु मायने घरके लोग और दूसरे कर्मका बन्धन। जो समतापरिणामको करते हैं वे बन्धुको खत्म करते हैं। वे कुटुम्बके लोगोंको नहीं खत्म करते हैं, कर्मोंको खत्म करते हैं। शब्द सुननेमें ऐसा लगता है कि यह बन्धुको खत्म करता है। दूसरा दोष बताया है कि जगको गहल कर देता है, जगत्को पागल बना देता है। जो कोई इनके उपदेश सुनते हैं; वस्त्र, आभूषण त्यागकर, घर द्वार छोड़कर साधु बन जाते हैं। ऐसा लोगोंको दिखता है कि इनके उपदेशने तो इसे पागल बना दिया है। जैसे किसी साधुके उपदेशको सुनकर अपना लड़का भी साधुके पास रहने लगे या घरकी परवाह न करे तो कहते हैं कि साधु महाराजने तो इस लड़केको पागल बना दिया। उसका न घरमें मन लगता, न किसी काममें चित्त लगता, उसे तो सत्संगमें ही रहना सुहाता है, दिमाग क्रैक हो गया है। तो दूसरा दोष यह बताया है साधु पुरुषका। पर यह क्या दोष है? यह तो स्तवन है।

साधुके संगमें रहकर भक्तके ज्ञानका नेत्र खुल जाता है और सत्पथ

मे लग जाता है। प्राकृत भाषामें बंधु शब्दके दो अर्थ हैं—एक भाई और एक ज्ञानावरणादिक कर्मोंका बंध। जब निन्दारूप अर्थ लगावो तो परिवार कुटुम्बके भाई को समतापरिणाम वाला साधु खत्म कर देता है यों अर्थ करना, पर असली अर्थ यह नहीं है। असली अर्थ तो यह है कि वह कर्मों के बंधको खत्म करता है। दूसरी बात चूंकि कर्मबंधका दोष अब उस समतापरिणाम वाले साधुके नहीं है, इसलिए वह समभावका धारक नग्न दिगम्बर हो जाता है। इनका यह ही काम है कि खुद घर छोड़कर फिरना और दूसरों को भी वैसा ही बना देना। पर यह दोष नहीं है, गुण ही है। मोही जनोंको ये ज्ञानीजन बावले लगते हैं और ज्ञानीजनोंको ये जगतके मोही प्राणी बावले लगते हैं। जगत्के प्राणियोंकी दृष्टिमें ज्ञानी पुरुष पागल है और ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें संसारके लोग पागल हैं। समतापरिणामका यही अर्थ है—अभेदनयसे देखा गया रागादिरहित परिणाम धर्म कहीं बाहर नहीं मिलता है। यह आत्मा ही धर्म युक्त है, सर्वथा ही धर्ममय है। धर्मकी पूजा करे, रत्नत्रयकी पूजा करे तो हम इस धर्मको बाहर कहां ढूंढे। अपने भीतरमें ढूंढो तो वह धर्म मिल जायेगा। वह धर्मधारी आत्मा ही धर्म है, वह ही रत्नत्रय है। धर्म और कहीं नहीं है। धर्म शब्दका अर्थ है रागादिक रहित शुद्ध परिणाम।

रागादिकरहित चिदानन्द स्वभावमय अपने आत्माको जो परिणमाते हैं उन साधुओंके ये दो दोष कहे गए हैं। बंधु शब्दसे गोत्र अर्थ लिया और ज्ञानावरणादिक बंध भी लिया। जिस कारणसे अपने उपशमस्वभावसे परमात्मस्वरूपसे परिणत होता हुआ साधु ज्ञानावरणादिक कर्मबंधको नष्ट करता है उस कारणसे तो इस साधुका स्तवन बन गया और जिस कारणसे बंधुका अर्थ गोत्र लगा दिया तो बंधुका घाती हो गया, तो लोकव्यवहारमें वह निन्दाका पात्र है। लोकव्यवहारमे ज्ञानीजनोंके लिए तो ये सारे लोग पागल मालूम पड़ते हैं और इन अज्ञानीजनोंके लिए ज्ञानी पागल मालूम देते हैं। कसाई जा रहा हो और साधुके सामनेसे दर्शन हो जायें तो वहींसे वह अपने हथियार फेंक देता है कि असगुन हो गया। तो अज्ञानीजनोंको ज्ञानी गहल मालूम होते हैं और ज्ञानी जनोंको अज्ञानी गहल मालूम होते हैं। साधु जगत्को गहल कर देता है, इसका अर्थ है कि वह जगत्के प्राणियोंको पागल कर देता है। यह उस साधु पुरुषका स्तवन ही है कि वह अपने बंधको नष्ट करके अपना आत्मकल्याण करता है और संसारको दूर करता है। अब और भी दोष बतलाते है कि जो ज्ञानी समतापरिणामको करता है उसके और भी दोष होता है।

अण्णुवि दोसु हवेइ तसु जो समभाउ करेइ।
सत्तुवि मिल्लिवि अप्पणउ परह णिलीलु हवेइ ॥४५॥

जो साधु समतापरिणामको करता है उसके और भी दोष होता है, क्यों कि वह परके तो आधीन हो जाता है और अपने आधीन हुए भी शत्रु को छोड देता है। अगर कोई दुश्मन आ गया तो वह उस दुश्मनको छोड देता है। यह दोषके रूपमें बात बनाकर साधुकी स्तुति की गई है।

एक बार मुजफ्फरनगरमें जहां लाला मित्रसेन जी थे, वहा हम रहे। चातुर्मास किया था तो उनकी बात बतला रहे हैं। उनमें कैसी प्रतिभा थी? जब हम जाने लगे तो सभामें बोले कि हमें तो इन्होंने बरबाद कर दिया। हमने कहा कैसे बरबाद किया? उन्होंने कहा कि अगर कोई छोटा मोटा पडित आगया तो उसकी बात हमे पसद न आयेगी और आप जैसे यहासे जा रहे हैं तो हमारा जैसा पहिले ध्यान चलना था, वह सब ध्यान खो दिया। यह बडे जोरकी बात है। बात बिल्कुल बढ़िया है, इससे अच्छा कोई अनुराग प्रदर्शित नहीं कर सकता है। इसमें बाहरसे देखनेमें बिल्कुल दोष लग रहा है, पर भीतरमे अपूर्ववात्सल्य भरा हुआ है। यों ही यहा कहा जा रहा है कि जो समतापरिणाम करता है उसमें ये दो बडे ऐब हैं। एक तो परके आधीन हो जाता है और अपने आधीन भी शत्रुको छोड़ देता है। इसमें स्तुति कैसी भरी है सो सुनिए। जो पुरुष रागादिकरहित निज शुद्ध परमात्मतत्त्वकी भावना को करता है वह पुरुष ज्ञानावरणादिक कर्मरूप शत्रुको निश्चयसे छोड देता है और पर शब्दके मायने हैं परमात्मा, सो परके आधीन हो जाता है अर्थात् परमात्माके आधीन हो जाता है। पर मायने उत्कृष्ट, तो परमात्माका आश्रय करके इसका अर्थ है परके आधीन हो करके आत्मीय शत्रुको भी छोड़ देता है। इसका आशय यह है कि अपने जो ज्ञानावरणादिक शत्रु हैं उनको छोड देता है और परमात्माका आश्रय लेता है। इस प्रकार निन्दाके ढगसे तपस्वीकी स्तुति की गई है। अर्थात जो समतापरिणाम करता है वह कर्मबधनको दूर कर देता है और परम आत्मतत्त्वमें लीन हो जाया करता है। इस प्रकार और भी दोष बतला रहे हैं, यह अतिम दोष प्रदर्शन है।

अण्णुवि दोसु हवेइ तसु जो समभाउ करेइ।
वियलु हवेविणु इक्कलउ उप्परि जगहँ चढेइ ॥४६॥

यह बहुत बड़ा दोष कहा जा रहा है। उस साधु पुरुषके जो समता-परिणाम क... एक और दोष होता है। वह क्या होता है कि वह

बडा विकल होकर इस जगत् के ऊपर चढता है। इसमे कितनी निन्दा है कि वह तपस्वी साधु विकल होकर जगत्‌के ऊपर चढता है। इसका अर्थ देखो।

विकल होकर अर्थात् शरीररहित होकर, वि मायने रहित और कल मायने शरीर। जा समतापरिणाम करता है वह शरीररहित होकर अकेला जगत्‌के ऊपर लोकके शिखर पर चढ़ता है, मायने लोकके अंतमे चढता है। और इसमें दोषरूप वर्णन तो प्रकट शब्दोंमें भरा है। विकल होकर इस जगत के ऊपर चढता है। जैसे कोई अधर्मी पुरुष अपने पर हमला करे तो उसे कहते है कि यह इतना उद्दण्ड है कि हमारे ऊपर चढता है। इसी प्रकार यह समतापरिणाम वाला कैसा है कि लोकके ऊपर चढ जाता है। प्रशसाका अर्थ यह है कि लोक शिखरके ऊपर चढ़कर सिद्ध बन जाता है। यहा यह अभिनन्दन है कि तपस्वी रागादिक विकल्परहित परम उपशमरूप निज शुद्ध आत्माकी भावनाको करता है, वह कल को छोड़कर अर्थात शरीरको छोड़कर लोकके ऊपर विराजमान हो जाता है। इस शब्दसे स्तुति प्रकट होती है। कल मायने शरीर, जो भारी वादविवाद करे, वचनालाप करे उसे कहते हैं कल-कल कर रहा है। मायने वे शरीर-शरीर आपसमें भिड़ रहे हैं। वचनोसे लडाई हो रही हो उसे कहते हैं कल-कल। जहा आत्माकी बात न हो, विवेककी बात न हो, वहा तो कलकल है। लडाई भिड़ाईके जहा वचन बोले जायें उसे कलकल कहते हैं। तो ऐसे कलकलको छोडकर लोकके ऊपर समतापरिणाम वाले मुनि ठहरते हैं, इस कारणसे तो हो गई स्तुति।

अथवा जैसे कोई इस जगत्‌के बीचमे चित्त विकल करके लोगों पर जुलुम ढाये, वैसा ही शब्द इस स्थानमें बोला गया है। ये साधु महाराज देखो कैसे हैं कि विकल होकर दुनियाके ऊपर चढते हैं। विकलका अर्थ है बेचैन होकर। यहां तपस्वी पुरुषका दोष बताया कि ये साधु महाराज विकल होकर लोकके ऊपर चढ जाते है। इसमे सारी प्रशसा ही भरी है। इस साधु मे सारे गुण ही गुण हैं। जिस गुण और समाधिके प्रतापसे शरीररहित होकर तीनों लोकोंके ऊपर विराजमान हो जाता है। इस तरह उक्त तीन गाथावोंमे समतापरिणाम होने वाले साधुकी स्तुति की है। जब किसी पुरुष की निन्दात्मक शब्दोंसे स्तुति की जाती है तो समझो कि स्तुति करने वालेका बहुत बड़ा प्रेम है। अधिक गहरा प्रेम हुए बिना निन्दा वाले शब्दोंके द्वारा स्तुति नही की जा सकती है। तो इसमे समतापरिणामकी स्तुति करने वाले पुरुषको समतासे भी कितना अधिक प्रेम है कि समता वाले साधुका स्तवन निन्दा वाले शब्दोसे प्रकट कर रहा है।

जा णिसि सयलहं देहियह जोग्गिउ तिहि जग्गेइ।
जहिं पुण जग्गइ सयलु जगु साणिसि भाणिवि सुवेइ ॥ ४६ ॥

जो सब जीवोंकी, प्राणियोंकी रात है, उस रातमें तो योगी पुरुष जागता है और जिसमें समस्त संसारी जीव जागते हैं उस दशाको योगी रात मानकर सोता है अर्थात् सर्वप्राणियोंकी रात है ज्ञान और वैराग्य, उनके लिए ज्ञान और वैराग्य रात्रि है, सो उस ज्ञान और वैराग्यमें तपस्वी जागता है। और सारा ससार जाग रहा है विषयकषायोंमें, सो विषयकषायों में योगी सोता है अथवा और विशेष दृष्टिसे जो आत्माकी सहज शुद्ध अवस्था है, वीतराग परमानन्दमय है वह तो ससारके प्राणियोंके लिए रात्रि बन रही है, अर्थात् वे प्राणी मिथ्यात्व रागादिक अन्धकारसे भरे हुए हैं। शुद्ध अवस्थाकी ओर उनकी गति नहीं है।

जिनकी जिस ओर गति नहीं उसे उनकी रात कहते हैं। और जहा गमनागमन गति है उसे दिन कहते हैं। तो अज्ञानी जीवकी रात्रि है, शुद्ध आत्मअवस्था। इस जगत्के देही प्राणी जो निज शुद्ध आत्माके सम्वेदनसे रहित हैं उसमें वे सोते रहते हैं। उन्हें वह रात्रि है और परमयोगी उस समय जागता है, अर्थात् अपने शुद्ध आत्माकी परिणतिमें निरन्तर सावधान रहता है। जो दशा जगत्के प्राणियोंके लिए रात्रि बन गई है उस दशामें वह योगी जागता रहता है। मिथ्यात्व, रागादिक विकल्पोंसे वह योगी दूर हो गया है, तभी तो वह उस दशामें जाग सकेगा। अन्धकार दूर करनेका साधन है दीपप्रकाश। तो योगियोंके पास स्वसम्वेदन ज्ञानका दीपप्रकाश है। जब इस आत्माका उपयोग अपने आपके ज्ञानस्वरूपके जाननेमें लगता है उस समयके प्रकाश और आनन्दका वर्णन कोटि जिह्वावों द्वारा भी कोई नहीं कर सकता।

भैया! इस जगके प्राणीको एक अपने उस ज्ञायकस्वरूपका पता नहीं है, इसलिए बाह्यवस्तुवोंका भिखारी बनकर रात दिन कठिन परिश्रम कर रहा है। परिश्रम भी रात दिन खूब करता है, और वह परिश्रम भी खुश होकर करता है। किसी भी समय उसे यह ज्ञान नहीं होता कि मैं उल्टे मार्ग पर हूं, वह योगी पुरुष वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञानरूपी दीपकके प्रकाशसे मिथ्यात्व, रागादिक विकल्पोंको दूर कर देता है और उस शुद्ध अवस्थामें शुद्ध आत्मतत्त्वके दर्शन द्वारा जागता रहता है। और ये जगत्के प्राणी मन, वचन, कायके व्यापारमें रात दिन जगते रहते हैं, क्योंकि उन्हें शुद्ध परमात्मतत्त्वकी भावना नहीं रही, अपने शुद्ध आत्माका ज्ञान न रहा। सो ये सर्व अज्ञानी जन विषयकषायोंमें ही जागते रहते हैं। कैसे सजग

रहते हैं, अपने विषयकषायोंके सचयका कैसा हिसाब बनाए रहते हैं, और जो जितनी बढिया व्यवस्था बन ना चाहते हैं वे अपनेको उतना ही कुशल समझते हैं। पर योगीजन उसे रात मानते हैं, खतरा मानते हैं। वे मन, वचन, कायकी गुप्तियोंसे गुप्त होकर योग निद्रामे सोते रहते हैं, वीतराग निर्विकल्प समाधिमे रत रहते हैं और विषयकषायोंसे पराङ मुख रहते हैं। जहा सकल जग जागता है वहां योगी सोता है, और जहा योगी जागता है वहा सकल जहान् सोता है। ऐसी विलक्षणता है योगीकी और जगत्के अन्य प्राणियोंकी।

इस दोहेमें क्या भाव दर्शाया गया है कि बाह्यविषयोंमें सोना अर्थात् उनमे पराङ मुख होना इसको ही उपशम कहते हैं। पहिले कहा था कि जो शुद्ध परिणाम करता है उस योगीमें अनेक गुण प्रकट होते हैं, जिसका फल निन्दावाचक शब्दोंमें स्तवन किया गया था। कैसे कि इन समतापरिणाम करने वाले योगियोंमे दो दोष होते है– एक तो बन्धुको हनता है और सर्व जगत्को पागल बना देता है। पर इसमें स्तुति भरी है। कर्मबन्धको मिटाता है और स्वय शरीर त्याग करके सिद्ध हो जाता है। और जिनको उनका ज्ञान मिलता है वे भी सब छोड़कर साधु हो जाते हैं। लगता ऐसा है कि ज्ञानियोंके ये दोष है, पर दोष नहीं हैं। यह उनकी स्तुति की जा रही है। अपने शत्रुको छोड़ देता है और परके आधीन हो जाता है। अर्थ क्या लेना कि जो कर्मशत्रु हैं उनको त्याग देता है और परमात्माके आधीन होता है। और दोष क्या होता है कि जो समतापरिणाम करता है वह विकल होकर अकेले इस जगत्के ऊपर चढ़ जाता है। कोई विकल होकर अपने सिर पर चढ जाय तो उसे अच्छा कहेंगे क्या ? नहीं। तो यह ज्ञानी विकल होकर अकेले इस लोकके ऊपर चढ जाता है। अर्थ क्या हुआ कि विकल होकर अर्थात् शरीररहित होकर। कल मायने शरीर और वि मायने विगत याने शरीर रहित होकर लोकके शिखर पर विराजमान हो जाता है। भगवान् हो गया तो लोकके ऊपर विराजमान हो जाता है। ये सब गुण उसमें प्रकट होते हैं जिसमे उपशम परिणाम होता है। वह उपशम परिणाम क्या है, उस ही को इस दोहेमे कहा गया है। बाह्यविषयोंसे उपेक्षा हो सो जानो कि इस ही का नाम उपशम है।

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानी पुरुष परमवीतरागरूप समतापरिणाम को छोड करके बाह्यविषयोंमें रागको नहीं प्राप्त करता है। सो वास्तवमे वही ज्ञानी है, और उत्तम होनहार वाला है जो किसी भी लोभमें, प्रलोभनमे वीतरागरूप समतापरिणामको नहीं छोड़ता और बाह्यविषयोंमे रागको नहीं

प्राप्त होता।

णाणि मुणेप्पिणु भाउ समु कित्थु वि जाइ ण राउ।
जेण लहेसइ णाणमउ तेणजि अप्पसहाउ ॥ ४७ ॥

जो परमात्मतत्त्वके और रागादिकभावके अन्तरको जानता है– ऐसा ज्ञानी पुरुष उपशमपरिणामको कभी नहीं छोड़ता। उपशमपरिणाममें दो बातें होती हैं– एक तो इन्द्रियविषयोंकी अभिलाषाका अभाव और रागद्वेष स्वानुभवके, परम आल्हादका सद्भाव। उपशमपरिणाम वही है कि जिसमें किसी भी प्रकारके विषयकी अभिलाषा नहीं है। जहा अभिलाषा है वहां उपशमपरिणाम नहीं है, वह तो कषाय भाव है। जहा विषयोंकी अभिलाषा नहीं रही और शाश्वत रागद्वेषरहित परम आनन्द जहां करने लगता है उसको ही शान्ति परिणाम कहते हैं। इच्छा हो तो शान्ति नहीं होती, और जहां शान्ति है वहा अलौकिक आनन्द जगता है। सो ऐसे समतापरिणाम को छोड़कर ज्ञानी जीव किसी भी बाह्यविषयमे रागको नहीं प्राप्त होता है। क्यों नहीं होता? यों कि वह तो समतापरिणामके द्वारा ज्ञानमय निर्दोष परमात्मस्वभावका प्राप्त करेगा, वह तो अपने कार्यक्रममें लगा है। वह राग क्यों करेगा?

भैया! दु खोंके गड्ढेमें पड़े रहने और शुद्ध आनन्दकी प्राप्ति करनेमें इतना ही भेद है कि जो बाह्यपदार्थोंमें राग कर रहा है वह संसारमें रुलेगा और जिसे बाह्यविषयोंका राग नहीं रहा, निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अनुराग हो गया, वह ससारके सकटोंसे छूटेगा। किसी इन्द्रियका विषय सुहाना, भोजन अच्छा मिले ऐसी अभिलाषा जगे अथवा गधका, रूप देखनेका, राग सुननेका विकल्प बनाता रहे तो ये सब ससारमें रुलानेके ही कारण हैं। बाह्य स्थितियोंको कर्म नहीं निरखता कि अमुक त्याग कर दिया, घर छोड़ दिया, साधु हो गए, कुछ वेशभूषा बनाया, इसको कर्म नहीं देखता और इन भूषाओं को देखकर कर्म नहीं डरता। कर्मोंके तो ईमानदारीके काम हैं, क्योंकि वे जड़ हैं। जड़ पदार्थोंमे ईमानदारी रहती है। जड़ तो ईमानदार ही होते हैं, किन्तु बेईमान चेतन बन सकते हैं। घड़ीमें चाभी भर दो तो वह चलती ही रहेगी, वह अपनी ईमानदारीसे नहीं हटती। पेचपुर्जा खराब हो जाय तो र चलेगी, वहा भी ईमानदारी है क्योंकि जिसका निमित्त पाकर जो कार्य होना चाहिए वह बराबर कर रहा है। ये कर्म ईमानदार हैं। यह पुरुष छुपकर, कैसा ही मायाचार रखकर कुछसे कुछ दुनियाको दिखाना चाहे तो इस बेईमानीको जीव कर पाता है, पर कर्मोंको तो जैसा निमित्त मिलने पर बन्धना चाहें तैसा निमित्त होने पर वे बन्ध कर ही रहते हैं। जैसा परि-

णाम होने पर कर्मोंको अलग हो जाना चाहिए वैसा परिणाम मिलने पर कर्म अलग हो जाते हैं।

भैया! पुद्गल बेईमानी नहीं करते, उनमें सेन्स ही नहीं है, किसी तरहका आशय ही नहीं है। वहा तो उनमे सही निमित्तनैमित्तिक भाव हैं। वैसे निमित्तनैमित्तिक भाव इस चेतनमें भी हैं, जैसा उदय आया तैसा इनमें परिणमन होता, पर उदयको कौन पूछता है? ये तो बाह्यमे अपनी परिस्थितियां बनानेका यत्न करते हैं। उसकी अपेक्षा यह जीव कितनी बेइमानी करता है, पर यह जीवकी बेइमानी तब तक चलती रहती है जब तक यह विषयोकी अभिलाषा और अज्ञानमें रहता है। ज्ञानमयस्वरूप होनेके बाद इसमे बन्धका परिणाम नहीं रहता है। किसीको दिखाने और अपने आप को सजानेका इसमें परिणाम नहीं रहता है। वही सात्त्विक बात है, जाप करने बैठे हो और कोई सामनेसे अपने परिचय वाला गुजरे तो वहा सैना के सिपाहीकी तरह जो चुस्त और सावधान होकर बैठ जाता है वह बेइमानी नहीं है तो और क्या है? क्योंकि यह बात उसके आयी कि दिखाने, बनाने, सजानेका आशय लगा है। हम बुरे हैं तो बुरे ही हैं। औरोंको दिखाने बनानेसे अन्तर न आ जायेगा। हम भले हैं तो अपने लिए भले ही हैं, दूसरोकी समझमे न आनेसे अन्तर नहीं आ जाता। तो यह ज्ञानी जीव समतापरिणामको छोड़कर बाह्यविषयोंमें रतिको नहीं प्राप्त होता है। उससे क्या होता है कि वह ज्ञानमय केवल ज्ञानसे रचा हुआ और केवलज्ञानमें अन्तर्भूत हुए अनन्त गुणमय आत्मस्वभाव को प्राप्त कर लेगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष शुद्ध आत्माके अनुभवरूप समतापरिणामको छोड़कर, वीतराग समाधिभावको छोड़कर बाह्यविषयोंमें रागको नहीं प्राप्त होता है।

भैया! समतापरिणामके बिना शुद्धआत्माकी प्राप्ति नहीं होती है। जिसको दुनियाका संकोच मिट गया वह ज्ञानी ही अपनी उन्नतिके कार्यमें सफल हो सकता है। जिन्हें लोकका संकोच मिट गया ऐसे प्राणी दो तरहके होते हैं—या तो महामूर्ख या महाज्ञानी। या तो मूर्खको दुनियाका सकोच नहीं रहता या परमज्ञानीको दुनियाका सकोच नहीं रहता है। बीचके लोग जो न मूर्खमें अपना नाम लिखवाते हैं और न ज्ञानी ही होते हैं, ऐसे लोगो को ही दुनियाका सकोच और लिहाज रहता है। यहा साधारण सकोच और लिहाजकी बात नहीं है, किन्तु अपने माने हुए कामके करनेके बीच बिगाड़ है तो भी वे अर्धमिक्चर लोग संकोच और लिहाज करते हैं। ऐसे न ता कोई मूर्ख होते हैं और न ऐसे कोई ज्ञानी होते हैं। वे मध्यस्थ लोग ही अपना काम बिगड़ जाये तो सहकर सकोच और लिहाज किया करते हैं। ज्ञानी

पुरुष एक शुद्ध आत्मतत्त्व के लाभको ही अपना सर्वस्व लाभ जानता है। इस कारण किसी भी प्रकार वह समतापरिणामका परित्याग नहीं करता है।

अब यह प्रतिपादन करते हैं, कि ज्ञानी जीव किसी दूसरेको न कहता है, न कहलवाता है, न स्तवन करता है, न निन्दा करता है, किन्तु मोक्षके कारणभूत एक समतापरिणामको ही निश्चयसे जानता हुआ उसमें ही अचल रहता है।

भणइ भणावइ णवि थुणइ णिंदइ णाणि ण कोइ।
सिद्धिहिं कारणु भाउसमु जाणतउ पर सोइ ॥४८॥

यह ज्ञानी पुरुष जिसको निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व ही रुच गया है वह ज्ञानी ध्यानी पुरुष किसीको नहीं कहता है। कहता हुआ भी नहीं कहता है। सम्यग्दृष्टीकी ऐसी स्थिति होती है। एक तो यह अर्थ है कि अन्तरसे किसीको कुछ कहता ही नहीं है क्योंकि अन्तरसे कहनेका परिणाम उनके होता है जिनके स्वार्थ और आसक्ति होती है। वे ही खुश होकर बडी-बडी बातें किया करते हैं। ज्ञानी जीवको परिस्थितिवश बोलना भी पडता है, पर वह अन्तरसे किसीसे नहीं बोलता। वह जानता है कि कोई दूसरा मेरा सुधार, मेरा हित न कर देगा और न कोई शरण हो सकता है। यह बात उसके अन्तरमें ऐसी डटकर बैठी है जिसके कारण किसीसे नहीं कहता। ये हुई एक बात।

दूसरी बात, ज्ञानी किसी अन्यसे शिष्य बनकर नहीं पढता। इस अर्थ में उस ज्ञानी पुरुषको लेना जो निर्विकल्प समाधिपरिणाममें स्थित हो रहा है। उसके पढनकी क्रिया कहा होगी ? और न गुरु बनकर वह ज्ञानी किसी दूसरेको पढ़ाता है। यह निर्विकल्प ज्ञानी ध्यानी पुरुषकी बात है और साधारणतया जैसे ज्ञानी पुरुष कहता हुआ भी नहीं कहता है, इसी प्रकार कहनेकी प्रेरणा भी नहीं करता है। जैसे यहा भी अपने कामकी सिद्धि करवानेके लिए लोगोंकी पहुच होती है, दो चार पुरुषोंसे सिफारिश करवायेंगे। कितने ही पुरुष ऐसे उदार गम्भीर भावके होते हैं कि जो होना होगा सो होगा, क्या कहलवायें, क्या सिफारिश करवायें ? अपने न्यायसे बैठे हुए हैं जो होना होगा सो होगा। कितने ही पुरुष इस प्रकारके भी होते हैं। ज्ञानी पुरुष परमधीर होता है। वह न कहता है, न कहलवाता है अर्थात् अन्तरमें इन दुनियावी क्रियावोंके प्रति उसकी रुचि नहीं रहती है।

ज्ञानी पुरुष निन्दा नहा करता, स्तवन नहीं करता। स्तवन कहते हैं गुणोंका अधिक गान करना और कदाचित् ज्ञानी गुणोंकी बात कहे तो भी वह स्तवन नहीं है। वह तो जो है उसको कह रहा है। ज्ञानी जीव किसीकी

बढकर बातें नहीं करता। उसको स्वय दूसरेके गुण रुच गए है। सो उन गुणो की भक्तिसे भरकर वह दूसरेके गुणोंकी बात कह देता है, पर स्तवन नहीं करता है। मायने वह किसीकी लल्लोचप्पो नहीं करता और निन्दा नहीं करता, क्योंकि निन्दामे रखा क्या है? किसी पुरुषकी निन्दा भी हम तब कर सकेंगे जब कि उन दोषोंको पहिले अपने उपयोगमे फिट करलें। दूसरोंके दोषोंको पहिले हम अपने उपयोगमे फिट करलें तब हम दूसरेके दोषोंको बोल सकेंगे। फिट करनेका अर्थ है कि उन दोषोंका अपने उपयोगमे विषय बनाकर अपने उपयोगको दोषमय बना लें।

जैसे जब यह जीव क्रोधमे उपयोग देता है तब यह जीव क्रोधी कहलाता है, क्रोधमय कहलाता है। जब यह मान, माया, लोभमे उपयोग देता है तब यह जीव मानमय, मायामय, लोभमय कहलाता है। यह तो है अपने क्रोधकी बात। अपने आपकी भूमिकामें जो क्रोध उत्पन्न हो रहा है उसमें उपयोग दें तो वह जीव क्रोधमय हो गया। इस प्रकार दूसरेमे रहने वाले दोषों पर यह उपयोग तो दोषमय हो जायगा। प्रथम तो यह दूसरेके दोषोंका उपयोग ही नहीं कर सकता। यह दूसरेके दोष अपने ज्ञेयमें दोष बन जाये, दोषाकार स्वय बन जायें तब उन दोषादिको उपयोगमें ले सकता है। यह निश्चयकी बात कह रहे हैं। दूसरेका दूसरेकी आत्मामें, दूसरेकी परिणति उस दूसरेकी परिणतिमे याने उससे बाहर उसकी गति नहीं हो सकती। दूसरेके दोष विषयभूत बनकर ज्ञेयाकाररूपसे अपने परिणमनमें आयेंगे तब हम उनका उपयोग कर सकते हैं। तो ऐसी स्थितिमे हमने अपने को दोषमय बनाया है या नहीं? जब हम अपनेको दोषमय बना सकेंगे तब दूसरोंके दोषोंको हम कह सकेंगे।

दूसरी बात यह है कि दोष कहनेमे पहिले हम ही पतित हुए। फिर कोई लोकलाभ भी नहीं है। दूसरेकी बुराई करके सिद्धि नहीं होती है, बल्कि असिद्धि होती है। दूसरेकी निन्दा करनेके फलमे अपना काम बिगड़ सकता, पर निन्दा करनेके फलमे सम्पदा मिले, इज्जत मिले, लोकलाभ मिले सो नहीं हो सकता है, उलटा झगड़ा ही बढ जायेगा। जिसकी निन्दा करते हैं उसके कानों तक बात पहुची तो क्या वह गम खाकर बैठ जायेगा? क्या वह बदला चुकानेका पुरुषार्थ न करेगा? प्राय करते ही हैं। तो लोकलाभ भी कुछ नहीं है। ज्ञानी जीव लोकलाभ न होने के कारण किसीकी निन्दा नहीं करता है। इतनी ही बात नहीं है किन्तु अपने को दोषमय बनानेकी योग्यता ही नहीं रखता, इस कारण यह दूसरोंकी निन्दा नहीं करता है। और फिर करता क्या है? जो सिद्धिके कारणभूत परिणाम हैं रागद्वेषरहित

समताभाव है उस समताभाव को करता है।

इस दोहेसे यहा यह तात्पर्य लेना कि परमशाति संयमकी भावनारूप जो यह कारणसमयसार है उसको अनुभवता हुआ ज्ञानी जीव कोई बाह्य-चेष्टाए नहीं करता है। एक अपने समतापरिणामकी रक्षा करना है। यह कारणसमयसार पर्यायरूप है और पर्यायरूप कारणसमयसार तब बनता है जब द्रव्यरूप कारणसमयसारका परिचय हो। कैसा है यह मोक्षमार्गरूप कारणसमयसार कि विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वरूप जो निज शुद्ध आत्मतत्त्व है उसका सम्यक् श्रद्धान् होना, सम्यग्ज्ञान होना और सम्यग्अनुभवन होना, यही रत्नत्रयरूप कारणसमयसार है। इसमें निज शुद्ध आत्मतत्त्वका श्रद्धान करनेकी बात कही है। शुद्ध गुणकी रुचिके कारण पर और परभावसे रहित केवल अपनी स्वरूप सत्तामात्र ऐसे शुद्ध आत्माका श्रद्धान्, ज्ञान और अनुभवन हो, सोई साक्षात् सिद्धिका कारण है। ऐसे कारणसमयसारको जानता हुआ और मन, वचन कायको वशमें करता हुआ, अपने आपके अनुभवके प्रसादसे यह भेदविज्ञानी पुरुष न कुछ कहता है, न कहनेकी प्रेरणा करता है, न स्तवन करता है और न निन्दा करता है। वह तो अपने समता-रसका स्वाद लिया करता है।

अब क्रमसे आगेके चार दोहोंमें यह बात प्रकट करेंगे कि जो पुरुष निज शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानके द्वारा निज शुद्ध आत्माको जानता है वह परिग्रहमें, विषयोंमें और देहमें, व्रत, अव्रतमें रागद्वेष नहीं कर सकता है। शुद्ध आत्माको जाननेका उपाय शुद्ध आत्माका ध्यान ही है। वह शुद्ध आत्मा का ध्यान सकल्प विकल्पसे रहित है, पचेन्द्रियके विषयभोगोंकी आकांक्षा से रहित है, देहसम्बन्धी मूर्छासे रहित है अथवा सीधे शब्दोंमें यों कहो कि जैसा आत्माका अपने सत्त्वके कारण सहजस्वरूप है, उस स्वरूपको जो जानता है वह रागद्वेपको नहीं करता है। रागद्वेष करनेका मूल है बहिरग और अतरग परिग्रहकी इच्छा। जो इच्छासे व्रत, अव्रत आदिकी प्रवृत्ति नहीं करता उसके तद्विषयक रागद्वेप नहीं होता।

गथह उप्परि परममुणि देसु वि करइ ण राउ।
गथह जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्पसहाउ ॥ ४९ ॥

अन्तरग और बहिरग परिग्रह पर जो मुनि राग और द्वेषको नहीं करता है, उसने आत्मस्वभावको ग्रन्थोंसे भिन्न जान लिया है। ग्रन्थके दो अर्थ हैं– परिग्रह और ग्रन्थरचना। तो मुनियोंके पास परिग्रह लायक कुछ यदि कहा जा सकता है तो शास्त्र या ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसलिए यहा ऐसा शब्द दिया है कि दोनों जगह उसका अर्थ लग जाय। वह ग्रन्थ

परिग्रह क्या-क्या चीज हैं। पहिले उसके भाग किए गए हैं– आभ्यतर परिग्रह और वाह्यपरिग्रह, और वास्तवमें तो आभ्यंतरपरिग्रह ही परिग्रह है। बाह्यपरिग्रह तो आभ्यन्तरपरिग्रह बननेमें आश्रयभूत है। वह स्वयं परिग्रह नहीं है। जो आत्माको चारों ओरसे जकड़ लेवे उसे परिग्रह कहते हैं। आत्माको जकड़ने वाला, डटने वाला तो आभ्यंतरपरिग्रह है, विषयकषाय।

भैया! बाहरी पदार्थ तो इस आत्माको छू भी नहीं सकते, जकडेगें क्या? सुदर्शन सेठको रानीने कितना ही जकडा, मगर आभ्यंतरपरिग्रह नहीं था कामविषयक, सो उसकी आत्मा उस कार्यसे मुक्त ही थी, और पुष्पडाल मुनिने घर त्यागकर जङ्गलमें साधुधर्म अगीकार किया, पर जङ्गल में रहते हुए भी आभ्यतरपरिग्रह स्त्रीका लग गया तो वह शल्यमें थे। उस शल्यको दूर करना पडा तब साधुपदको निभा सके। तो जकड़ने वाले आत्माके ही विभाव हैं, दूसरा कोई नहीं जकड़ता। कोई सोचता होगा यह अमुकचंद अमुकलालके आधीन हैं, ये बचे हुए कुटुम्बके लोग अमुक पुरुषों के आधीन हैं अथवा ये बडे गृहस्थ लोग अमुक-अमुक सेठके आधीन हैं अथवा कोई सेठ भी खोटे परिणाम करके किसी स्त्री आदिकके आधीन है, यह सब जैसा सोचे वैसा नहीं है, गलत है। यहां कोई भी किसी दूसरेके आधीन नहीं है, किन्तु इसमें स्वयं विभाव है, विषयकषायोंका परिणाम होता है। सो अपने-अपने विषयकषायोंके भावसे सभी आधीन हैं।

भैया! आज जो आधीन हैं उनके यदि ज्ञानप्रकाश हो जाय तो आधीनता मिट जाती है। कृतांतवक्र सेनापति जब तक उसका परिणाम राम के स्नेहमे था और जो कुछ सेनापतिको सुविधा सहयोग मिलता होगा उस प्रलोभनके आधीन था तब तक पराधीन था। रामने सीताको जङ्गलमें छुड़वाया, कृतांतवक्रने छोड़ा और अनुभव किया कि मैं पराधीन हू, और जब भीतरमें पराधीनताका भाव मिटा और आत्मस्वरूपका परिज्ञान किया तब राम ही मनाने लगे– अरे कृतांतवक्र! कहा जङ्गलमें कठोर तप साध सकोगे, कैसे कष्ट भोग सकोगे? कृतांतवक्रने यह कहा कि सबसे कठिनतासे त्याग ने योग्य बात तो आपका स्नेह था। जब इसने आपका स्नेह छोड़ दिया जो बहुत कठिन काम था तब परिग्रह, उपसर्ग आदि कौनसे दुर्धर काम हैं? जगत्के प्राणी केवल अपने-अपने भावोंके आधीन हैं। वस्तुके स्वरूपमें ही यह नहीं है कि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तुके आधीन बने। आभ्यंतर-परिग्रहकी बात कह रहे हैं। यह आत्माको चारों ओरसे बुरी तरहसे जकड़ लेता है, बन्धनमे कर देता है। सर्वपरिग्रहोंमें पहिला परिग्रह है, मिथ्यात्व, यह सर्वाधिक बुरा परिग्रह है। वस्तुस्वरूपका जहा यथार्थ भान नही है वह

पुण्य पुण्यके उदयमें भले ही हँसे, खेले, आडम्बर बढ़ाये, लोगोंमें शान बढ़ाये उसके उपयोगमें तो यह माना जा रहा है कि वे बड़े प्रकाशमें हैं, बड़े विवेकी हैं, बहुत ऊँचे हैं, पर मनमें गहरा अंधकार बसा है।

भैया! भ्रमसे उत्पन्न होने वाले दुःखको मिटानेका अन्य कोई इलाज नहीं है। भ्रम मिटे तो भ्रमका इलाज है, नहीं तो भ्रममें जकड़ा हुवा है। परिग्रह कहते हैं उसे जो आत्माको अहितमें जकड़े। जानकर करे तो और न जानकर करे तो। एक गावमें अतमें एक बढ़ईका घर था। सत्य घटना है। सो बढ़ई बड़ा मसखरा था। वहांसे मुसाफिर निकलें और पूछें कि अमुक गावको कौनसा गैल गया है? यदि गया हो पूरबको तो बता दिया पश्चिमको। और यह कह देता था कि देखो इस गावके आदमी सभी मसखरे हैं। वे सभी उल्टा रास्ता कहेंगे, जो वे कहें उनकी बात न मानना। अब वह गावमें से निकला, सो लोगोंसे पूछे सही रास्ता बतायें, पर उस पर ऐसा भ्रम छा गया कि इस गावके लोग सब मसखरे हैं, वे सब दिल्लगी करते हैं। सो वह पूरबकी दिशामें चला गया। जब वह दूसरे गावमें पहुचा और पूछा तो लोगोंने बताया कि रास्ता भूल गया है, अब उसकी समझमें आ गया कि गावके लोग मस्खरे न थे, वही एक मस्खरा था। सो भ्रममें किसी की बात नहीं मानी जा सकती है। यह ऐसा कठिन रोग है कि इसका इलाज ही नहीं है। इसमें उलटा ही उल्टा जँचता है।

मिथ्यात्व सर्वाधिक कठिन परिग्रह है। परिग्रहको पिशाच कहा है और वह पिशाच अपना ही खोटा भाव है। इससे बढ़कर और पिशाच क्या होगा? जगतमें अनन्त जीव हैं। उन जीवोंमेंसे दो-तीन जीवोंकी छटनी करली कि ये मेरे हैं और उन दो-तीन जीवोंके लिए ही अपना तन, मन, धन सब कुर्बान हो सकता है, पर अन्य जीवोंके लिए अपना तन, मन, धन नहीं लग सकता। इन अनन्त जीवोंमें से केवल दो, चार लोगोंको ही छाट लिया, इसको कितना कठिन परिग्रह पिशाच कहा जायगा? लोकव्यवस्था की बात जुदी है, करना पड़ता है करो, पर श्रद्धान्में तो यह नहीं रहना चाहिए कि ये दो, चार जीव ही मेरे सर्वस्व हैं, अपनी श्रद्धाको सभालना चाहिए। गृहस्थ भी एकसे एक ज्ञानी होते हैं जिनका अलौकिक चारित्र होता है। तो मिथ्यातत्व आभ्यतरपरिग्रह है, और स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदमें जो आकाक्षाएँ होती हैं उन आकांक्षावोंरूप तीन वेद आभ्यंतर परिग्रह हैं। आभ्यंतर परिग्रह जानकर तो किया ही नहीं जाता। मिथ्यात्व जान कर नहीं किया जाता, तो क्या क्रोधादिक जानकर किए जाते हैं? ये सर्व अज्ञानस्वरूप हैं। जानना बना रहे तो ये नहीं हो सकते।

- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, इच्छा, कषाय आदि सब अभ्यंतर परिग्रह हैं। बहुतसे लोग कभी-कभी हंसते रहते हैं, अरे इस जगत् में हंसने लायक भी कोई स्थिति है क्या? हाले फूले फिरने लायक संसारकी कोई स्थिति है क्या? नहीं। यदि शुद्ध आनन्द जगता हो तो जगे, पर जो बनावटी हास्य है, हर्ष है, ठिलठिला रहे हैं – जगत्के जीवों पर दृष्टि दो ना, जहा १०—५ लोग बैठे हैं वे ऐसा हंसते हैं कि यदि हसते हुएमें उनका फोटो लिया जाये और उनको ही दिखाया जाय तो पता लगे कि कैसा मुँह बन जाता है, किन्तु हाले फूले फिरते हैं। इस संसारकी कोठरीमें कोई भी हर्षके लायक यहा विषय नहीं है। यह परिग्रह पिशाच है, दु ख देने वाला भाव है। इसी प्रकार रति है। कौनसे वाह्यपदार्थ प्रेम करनेके योग्य हैं? एक तो समस्त पर मेरे आधीन नहीं हैं, दूसरे वे विनाशीक हैं, नष्ट हो जायेंगे। सो जितना संयोगमें हर्ष माना जा रहा है उससे कई गुणा दु.ख वियोगके समय में होगा। सो संयोगमें क्या हर्ष मानें वियोगके समयमें होने वाले दु खको जिनको भोगने की इच्छा न हो, उन्हें चाहिए कि वे संयोगके समयमें हर्ष न मानें। यदि संयोगके समयमें हर्ष मानेंगे तो वियोगके समयमें जितना भी हर्ष भोगा होगा सारे जीवनमें उसके एवजमें इकत्रित होकर वियोगके समयमें दु ख होगा और ये तो अनुभवकी बातें हैं आप लोगोंकी।

गृहस्थोंकी मुख्य दो तपस्यायें हैं—एक तो यह है कि अपनी आयके भीतर ही खर्चकी व्यवस्था बनाना और केवल परिवारके लिए ही खर्च न करना। आधा परिवारके लिए खर्च करे तो आधा सारी दुनियाके उपयोगके लिए भी खर्च करें। पहिली तपस्या तो गृहस्थकी यह है। कथावोंमें सुना होगा कि ऐसे दु खी गरीब पुरुष जिन्हें रोटी भी चैनसे खानेको न मिलती थी, मगर दान देनेकी उनकी प्रकृति थी। कभी रोटी बनाया और खाने के समय भिखारी सामने से आए और मागे तो उसे दे देते थे। प्रथम तो बिना मागे ही दे देना चाहिए। इस प्रकारकी उसप्रकृति वाले पुरुषोंसे यह नहीं हो सकता कि रोटी जैसी चीजको दूसरे को न दे दें। चाहे उन्हें दो एक दिन भूखे ही रहना पड़े। अतमें इतना पुण्यबंध उनके हुआ कि फिर उनका और आगे चरित्र है। पहला तप यह है कि अपनी आयके भीतर ही पारिवारिक खर्च और दानकी व्यवस्था बना ली जाये और दूसरा तप यह है कि संयोगके समय संयोगको विनाशीक मानते हुए संयोगमें हर्ष न माना जावे। यह दूसरा तप यह है कि संयोगके समय संयोगको विनाशीक मानते हुए संयोगमें हर्ष न माना जावे। यह दूसरा तप करे तो और। कैसी कर्मनिर्जरा होती है। पहिला तप तो आकुलतावोंसे बचानेके लिए किया जाता है और यह दूसरा

तप कर्मनिर्जराके लिए है।

अहा, ज्ञानीका कैसा पवित्र ज्ञान है कि सयोग वाली वस्तुसे सयोगके समयमें भी प्रीति नहीं की जा रही है किन्तु गुजारा किया जा रहा है और यथार्थ ज्ञान किया जा रहा है। कौन पदार्थ रति करने योग्य है, द्वेष करने योग्य है? कोई पदार्थ मेरा बिगाड़ नहीं कर सकता। मेरा मैं ही बिगाड़ कर सकता हू। स्वभावके विपरीत चलूँ, रागद्वेष करूँ तो मैं अपना बिगाड़ किया करता हू। कोई पदार्थ द्वेष करने योग्य नहीं है। शोक करने योग्य भी कुछ नहीं है। किसका शोक करते हो? एक औषधि जिसने प्राप्तकर ली निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका दर्शन तो उसको शोक होता ही नहीं है। हा भी शोक तो जब दवा पी तब शोक खत्म। कहा है झझट? यह तो मैं पूर्ण हू, अकेला हू, जैसा हू तैसा ही हू। यहा तो कुछ हानि ही नहीं होती है, कुछ बिगाड़ ही नहीं होता है। किस बातका शोक? अमुकमें १० हजार का टोटा पड़ गया, अमुक मेरे घरमे मर गया, अमुक मित्र मुझसे किनारा कर गया, बड़ा सकट छा गया। अरे एक ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि तो दो—यह तो मैं परिपूर्ण, अखण्ड सुरक्षित हू, परिपूर्ण हू। जो मुझमें नहीं है वह मुझमें कभी आ नहीं सकता, जो मुझमें है वह मेरेसे कभी निकल नहीं सकता। मैं तो सुरक्षित हू, पूर्ण हू, मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता, ज्योंका त्यों हू—ऐसे शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि हो तो शोक एक भी नहीं रह सकता है। यह शोक परिग्रह है, आत्माके बधनको जकड़ने वाला भाव है।

भैया! भयपरिग्रहकी बात सुनो। भय जितना पशुवोंको नहीं है उससे अधिक मनुष्योंको है। पशुवोंपर तो कोई लाठी लेकर ही सामने आजाय तब वे डरते हैं, किन्तु मनुष्यको सम्पदा मिली है उसका डर है, आरामसे रहते हैं वहा भी डर है। बैठे हैं गद्दी पर, फिर भी भयभीत हैं। कब क्या कानून बन जाये? जमींदारी छिन गई, मकान भी आधा छिन गया, किरायेदारोंका हो गया। कोई ऐसा कानून आ जाये कि यह भी चला जाये। पड़े हैं गद्दी पर लाखोंकी सम्पदाके हिसाबके बीच हैं, मगर बड़े भयभीत हो रहे हैं। ज्ञानी जीवको किसी भी प्रकार का भय नहीं होता है। अन्तरमें श्रद्धा है, किसी भी बातका उसके भय नहीं है। अजी कुटुम्ब बिछुड जायेगा तो? तो क्या, वे भी सत् पदार्थ हैं, वे भी परिणमनशील हैं, वे भी रहेंगे। मिटेगा कोई नहीं। भय किस बातका अजी वे कुटुम्बके लोग मिटेंगे तो नहीं। बिछुड़ जायेंगे तो जहा होंगे वहा होंगे। मनुष्यभव छोड देंगे तो भी उनका बाल बाका नहीं है। चेतन वस्तु हैं, सुरक्षित हैं उनका विनाश तो हो न जायेगा, पर मेरे से तो बिछुड़ गए। अरे तो मेरेमे मिले कहा थे,

जो बिछुड़नेका भय माना। ज्ञानीगृहस्थकी यह औषधि सब रोगोंकी अचूक दवा है। वह क्या है दवा? स्वभावदृष्टि।

समुद्रके बीच नदीके बीच कछुवा चोंच उठाकर पानीमें चल रहा हो और ६०-७० विचित्र-विचित्र पक्षी उसकी चोंचको पकड़नेके लिए चारों ओरसे झपटनेका ऊधम कर रहे हों तो कछुवा को एक सहज यत्न करना है--चार अंगुल नीचे पानीमे चला जाये, बस उसके सारे सकट दूर हो गए। अब बतावो वे सारे पक्षी उसका क्या कर लेंगे? और अगर वह कछुवा अपनी चोंचको ऊपर किए रहता और आगे पीछे अपनी चोंचको करके अपनी रक्षा करता तो उसके लिए सारे संकट थे। वह सुरक्षित नहीं रह सकता था। एक ही उसको अपने संकटोंके मिटानेकी औषधि है—क्या कि वह पानीमे चार अंगुल डूब जाय।' इसी प्रकार इस ससार के प्राणी जो कि ज्ञानसरोवरमय है उन्होंने अपनी चोंचको बाहर निकाल रखा है, सो उसही उपयोग पर सारे संकट आ रहे हैं। अब इतने हजारका टोटा पड़ गया, अब घरका यह बिछुड़ गया, अब अमुक-अमुक बाधा डाल रहे हैं, सारे संकट इस उपयोगकी चोंच पर मंडरा रहे हैं। यह अपने उपयोगको यहा वहां बसाकर दु खी है, यहासे अपना उपयोग हटाया, वहा लगाया, दूसरे पदार्थों से प्रार्थना करने लगा। सकटोंसे बचनेके लिए किसी अन्य पदार्थोंसे सहारा लेने लगे तो इस उपायसे यह कब तक सुरक्षित रह सकेगा? इसे तो एक ही यत्न करना चाहिए कि अपने उपयोगको इस ज्ञानसरोवरमें डुबा लेवे। बस एक ही यह ऐसा यत्न है कि जिस यत्नके होने पर एक साथ ही सैकड़ो सकट आक्रमण कर रहे हों तो उनमें से एक भी संकट नहीं रह सकता।

अपनेको आत्मस्थ कर लेना इस आत्माकी सहज कला है, सहज लीला है, खेल-खेलका काम है। पर इसे जो जानता हो उसके लिए यह कला है। बस सबसे कठिन यह ही बात है और जान लेने पर सबसे सरल यही बात है। इतनी बात हो जाये फिर और क्या बात है? एक बड़ा अभ्यस्त मल्ल था। सो लड़ाईमें सबको जीतता हुआ एक राजाकी सभामे पहुचा। वहां कहा कि मुझसे कोई लड़ना चाहे तो लडे। एक दुर्बल व्यक्ति खड़ा हुआ बोला-मैं लड़ूँगा, किंतु मेरी एक शर्त है कि जो मुझसे लड़े वह अखाड़ेमें आते ही गिर जाय, फिर मैं उसे जीत लूगा। अरे इतना ही तो लड़ाईमें करना है और करना क्या है? शातिके लिए अनेक यत्न करते हैं, पर इस यत्नमे और अधिक लगा जाय, इस यत्नकी सफलताके योग्य सगति रहे, ज्ञान ध्यान वार्ता रहे, अधिक समय बुद्धिमें उपयोग रहे, उस बुद्धिकी ही

धुनि लगे, ऐसा ही यत्न हो तो शांतिका मार्ग मिलेगा। पुण्य ठाठकी बात तो ऐसी है कि यदि पुण्य होगा तो थोड़ेसे श्रमसे पुण्य ठाठ हो जायेगा। न पुण्य होगा तो कितना हो अधिक श्रम किया जाय उससे पुण्य ठाठ न हो जायगा। पुरुषार्थ करो तो एक अपने आत्मज्ञान, आत्मत्यागका करो जिससे अपना उपयोग निर्मल रहे। ज्ञानी पुरुषको कोई भय नहीं रहता है। भयके योग्य बात आये तो भी वह एक इस औषधिको पी लेता है, जो समस्त रोगोंको, समस्त संकटोंको एक साथ विनष्ट कर देती है।

यहां आभ्यंतरपरिग्रहकी बात चल रही है कि रागद्वेष वही नहीं करता जिसने कि परिग्रहसे भिन्न अपने आत्मस्वभावको जान लिया हो। जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि करना भी एक परिग्रह है। जैसे जरा-जरासी मलिन चीजोंको देखकर थूकनेकी आदत बनाई जाती है यह भी हमारे ध्यानसे कुछ अच्छी बात नहीं है। अरे! जब जुगुप्सारहित अपनी आदत बनाने जा रहे हैं, तो यहां इतनी भी आदत नहीं बन पा रही है कि यथायोग्य, यथाशक्ति सर्व अपवित्र, गन्दी चीजोंसे उपेक्षा किए रहें। सो जरा-जरासी बातोंमें नाक सिकोड़ना, थूकना, नाकको बंद करना ये जो आदतें हैं, वे भी इस मार्गके बहुत बाधक हैं। हां, कोई ऐसी ही बात बहुत ही असह्य आ जाय और कदाचित् हो जाय, तो भाई गृहस्थ नहीं निभा सकता है। साधुजन तो सर्वत्र निजुगुप्स रहते हैं। यह तो लौकिक बात कही है। और भाइयों में या अन्य जनोंमें, पापीजनों तकमें भी कहा है कि जुगुप्सा परिणाम नहीं होना चाहिए। ज्ञानीको अपने ज्ञानस्वभावका परिचय है, इस कारण जुगुप्साका परिग्रह उसके नहीं होता। अब परिग्रहोंकी बात आगे बतायेंगे।

परिग्रह तो अन्तरङ्गपरिग्रह ही है। बाह्यपरिग्रह अन्तरंगपरिग्रहके विषयभूत साधन होनेसे परिग्रह कहा जाता है, पर आत्माका सम्बन्ध और परेशानी अन्तरंगके विभावोंसे है, बाह्यपदार्थोंसे नहीं है। बाह्यपदार्थों की तो उनसे बाहर गति ही नहीं है। वे मेरी हैरानीके कैसे कारण बन सकते हैं? हमारे ही भाव हमारी हैरानीके कारण हैं। इस कारण अन्तरंग पिशाच भाव ही वास्तवमें परिग्रह है। जो जीवको चारों ओरसे लपेट ले, घसीट ले उसे परिग्रह कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ चारों गतियोंके अन्दर परिग्रह हैं। क्रोधसे जीव दु:खी होता है, आकुलित ही होता है, पर क्रोधका प्यार नहीं छोड़ता है। यदि इस जीवको क्रोधसे प्यार न होता तो क्रोध कभीका छोड़ देता है। क्रोध नहीं छोड़ा जाता है इसका कारण है कि इस जीवको क्रोधसे प्यार है। अज्ञानभावकी खूबिया देख लो, जिस पर क्रोध करेगा, प्रथम तो वह भी इसे पीड़ा पहुंचानेकी धुनमें रहेगा। कोई छोटा

भी जीव हो तो भी पता नहीं कि उसका कब दाव लगे कि बड़े पुरुषका भी बिगाड कर सकता है।

बच्चोंकी कहानियोंमे एक छोटीसी कहानी है कि एक सोते हुए सिंहके ऊपर एक छोटासा चूहा खेलता था, उछलता था, सिंह बार-बार जग जाता। सिंह बड़ा हैरान हुआ। एक बार चूहा सिंहके पंजेमें आ गया तो चूहा कहता है कि वनराज तुम मुझे छोड़ दो, तो मैं भी कभी तुम्हारे काम आऊंगा। सिंह सोचता है कि यह चूहा मेरे किस काम आयगा ? फिर भी दीन समझ कर उस चूहेको छोड़ दिया। कई दिनके बाद एक दिन वह शेर किसी शिकारीके जालमें फस गया और जाल ऐसा बुरा होता है कि ज्यों-ज्यों निकलनेकी कोशिश करो त्यों-त्यों जालमे दृढ फसता जाता है। उस जाल मे फंसकर वह सिंह पराधीन हुआ और वहीं पड़ गया। कुछ समय बाद वही चूहा आया और उस सिंहको परेशानीमे देखकर चूहा बोला कि "मैं वही चूहा हू जिसने आपको आश्वासन दिया था कि मैं भी आपके किसी काममें आऊँगा और आपने मुझे छोड़ दिया था।" चूहा कहता है कि 'घबड़ाओ मत मैं तुम्हारे सकटको अभी दूर कर दूंगा।" क्या किया उस चूहे ने कि अपने दांतोंसे जालको काटा। सिंह स्वतन्त्र हो गया। तो यह समझना कि अमुक छोटा है उसको पीट दें, क्रोध करदे तो यह मेरा क्या कर लेगा- ऐसा समझना भ्रम है। छोटा भी कभी किसीके काम आ सकता है अथवा कोई काम आये या न आये इससे क्या मतलब है ? क्रोध करने वाला जीव क्रोध करनेके कारण स्वय आकुलित हो जाता है।

देखो भैया ! यह जीव इस ही क्रोधके कारण दु ख भोगता जाता है और उस ही क्रोधको प्यार करता जाता है। कभी किसी झगड़ेमें क्रोध शान्त होता हुआ दिखता है तो उसे यह फिक्र पड़ जाती है कि कहीं मेरा क्रोध कम हो गया तो इसको मजा तो कुछ भी नहीं चखा पाया, सो यत्न करता है कि मेरा क्रोध और बढ़े। यह क्रोध अज्ञानकी स्थितिसे होता है, यह क्रोध महा पिशाच है, परिग्रह है।

मान भी पिशाच है। अज्ञानी इस पर्यायके अभिमानमें अपने आप को बड़ा देखता है, और अन्य सब लोग उसे तुच्छ प्रतीत होते हैं। ऐसा मान करनेसे यह जीव क्या लाभ पा लेता है ? कुछ यहाके लोगोंके मान लेने से कोई उत्कृष्ट शान्ति तो नहीं मिल जाती। यह सब हमारे किस काम आ सकता है- ऐसी भी बात नहीं है। फिर भी अज्ञानमें यह जीव ऐसी कल्पनाएं बनाता है कि अपनेको बड़ा मानता है और दूसरोंको तुच्छ गिनता है। उस घमडके परिणाममे वह अपनेको दु खी ही नहीं मानता है, बल्कि उससे

राग भी करता है।

जैसे मान दुर्भात्र पिशाच है वैसे ही माया, लोभ भी महापिशाच हैं। मायावी चित्तमें तो धर्मका प्रवेश भी नहीं हो सकता। लोभका तो दुर्निवार वेग है। किसीसे अपना वैर निकालना हो तो सबसे बड़ा दण्ड देना यह है कि उसे कुछ परिग्रह लगाकर उसके लोभ बढ़ा देनेके कारण बन जावो। इससे अधिक बरबादी करनेका उपाय और कुछ न मिलेगा। हम आपको बरबादीका उपाय नहीं बता रहे, किन्तु लोग ऐसा कर रहे हैं, और वैरी बनकर भी अपनेको बन्धु बना रहे हैं। इस ही बातको इन शब्दोंमें कहा है।

इस प्रकार ये १४ आभ्यतर परिग्रह हैं, जिनके ऊपर मुनि राग नहीं करता है और न द्वेष करता है। अब कुछ दस प्रकारके बाह्यपरिग्रह कहे जा रहे हैं। खेत, मकान, सोना, धन, रकम, गोधन, धान्य, दासी, दास और वस्त्र तथा भाडे बर्तन ऐसे १० प्रकारके बाह्य परिग्रह हैं। इनमें भी साधुके रागद्वेष नहीं होता है। ऐसे बाह्य और अन्तरंग परिग्रहको सब जगह सब कालोंमें मन, वचन, कायसे, कृतकारित अनुमोदनासे त्याग करके ज्ञानी संत वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थित होता है। यह समाधि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिरूप है। आत्माका जैसा शुद्ध केवल ज्ञानमात्र स्वरूप है ऐसे ज्ञानमात्र स्वरूपकी दृष्टि रहना बस यही निर्विकल्प समाधि है। इस निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर जो बाह्य और अन्तरंग परिग्रहोंसे भिन्न आत्माको जानना है वह परिग्रहोंके ऊपर रागको नहीं करता है। यह सब वर्णन ऐसे गुण विशिष्ट निर्ग्रन्थ पुरुषके ही शोभा देते हैं, परिग्रह वाले पुरुषके लिए शोभा नहीं देते, अर्थात् परिग्रहमें आसक्त पुरुष इन वचनों को सुनता ही कहा है? जो मुनि किसी भी प्रकारके परिग्रह पर न राग करता है, न द्वेष करता है वह ही परिग्रहसे भिन्न आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वभाव को जानता है। अब विषयके सम्बन्धमें मुनिकी वृत्तिकी बात कहते हैं।

विसयहँ उप्परि परममुणि देसु वि करइ ण राउ।
विसयहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प सहाउ ॥ ५० ॥

विषयके ऊपर परम मुनि न राग करते हैं, न द्वेष करते हैं और विषयोंसे भिन्न आत्माको जानते हैं। जो रागद्वेष नहीं करते, उन्होंने ही आत्माके स्वभावको जाना है। यह विषय क्या है? जो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके द्वारा विषयभूत होते हैं उन्हें ही विषय कहते हैं। द्रव्येन्द्रिय तो हैं शरीरमें बनी हुई ये इन्द्रिया और भावेन्द्रिय वे हैं जो इन इन्द्रियोंके निमित्तसे कल्पना होती है। इनके द्वारा ग्राह्य जो विषय है, जिन्हें कभी देखा, सुना और अनुभव किया है, उन सब विषयोंको सर्वदा सर्वत्र मन,

वचन, कायसे कृतकारित अनुमोदनासे परित्याग करते हैं। न तो विषयों की कोई बात करते हैं न कराते हैं, न उनकी अनुमोदना करते हैं। उन विषयोंको त्यागकर मुनिजन एक निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न राग-द्वेषरहित परम आनन्दमय एकत्वकी अनुभूतिके रसके स्वादसे तृप्त रहते हैं।

भैया! सारा भवितव्य इस ज्ञानकी कलापर निर्भर है। जो अपने अन्तरमें ज्ञानकी कलासे चूका, अज्ञानमें लगा, बस वही गरीब है और जो ज्ञानकी कलामें उपयुक्त होता है वही अमीर है। पुण्यके उदयमें यह जड़ सम्पदा मिली है, उससे क्या अमीरपन है? वह तो दुःख देनेके लिए आई है। धनी होकर गरीब हो जानेमें कितने क्लेश होते हैं। जो जीवनमें शुरूसे ही गरीब है वह चैनसे रहता है। जिस जिसको सम्पदा मिली है उसकी सम्पदा अवश्य बिछुडेगी, किसी भी प्रकार बिछुडे। शाश्वत संयोग नहीं है। जब वह सम्पदा बिछुडेगी उस परिस्थितिमें दुःख होगा। सो जो मुनि सुखकी भावनाको त्यागकर एक शाश्वत, स्वाधीन आनन्दसे तृप्त होकर विषयोंसे भिन्न शुद्ध आत्माका अनुभव करता है वह मुनि पंचेन्द्रियके विषयोंमें राग और द्वेषको नहीं करता है।

यह चर्चा उनको शोभा देती है जो पंचेन्द्रियके विषय सुखसे निवृत्त होकर निज शुद्ध आत्मसुखमें तृप्त होते हैं उनको यह ज्ञान शोभा देता है, पर विषयासक्त पुरुषके सम्बन्धमें यह बात कहनी शोभा नहीं देती है अथवा अपने मुखसे ऐसी ऐसी बात कहना उसीके ही शोभा देता है जो यह कर सकता है और जो नहीं कर सकता है उसके मुखसे यह कही और सुनी हुई बात एक रूढिमें आ जाती है। कहना चाहिए, हम कह दें, तुम सुन लो, बस इतनेमें ही वह सब कार्यक्रम समाप्त होता है। उनको यह व्याख्यान शोभा नहीं देता है। जैसे कहते हैं ना कि जो खुद गुड़ खाये वह दूसरोंको गुड़के त्यागकी बात कहे तो शोभा नहीं देता है। जो खुद बीडी सिगरेट पिये और दूसरोंको न पीनेका व्याख्यान दे तो शोभा नहीं देता। उससे दूसरोंके चित्त में बात नहीं जमती। यह सब व्याख्यान विरक्त संतोंके ही शोभित होता है। विषयोंमें आसक्त पुरुषोंके लिए यह शोभा नहीं देता है।

जैसे शुभोपयोग हेय है, शुभोपयोग विष है, ऐसा वर्णन उनको शोभा देता है जो अशुभोपयोगसे छूट गए हैं और शुद्धोपयोगके लिए निरन्तर प्रयत्नशील होते हैं उन्हें शोभा देता है। बात यद्यपि सही है—शुभोपयोग विकार है, हेय भी है, बंधनमें डालने वाला भी है, पर यह कहना उन्हें शोभित होता है, उनके प्रति शोभित होता है जो अशुभोपयोगसे मुक्त हो कर और शुभोपयोगको भी हेय जानकर उससे निवृत्त होकर शुद्धोपयोगमें स्थित

होनेको कुछ कदम भी रखता हो। वैसे ही यह प्रकृत वर्णन ज्ञानी संत पुरुषों को शोभा देता है। जो मुनि विषयोंके ऊपर रागद्वेष को नहीं करता है उसने ही विषयोंसे भिन्न आत्माके स्वभावको जाना अथवा जिसने विषयोंसे भिन्न आत्माके स्वभावको जाना है वही परममुनि विषयोंके ऊपर न राग करता है, न द्वेष करता है। अब देहके सम्बन्धमें उस ज्ञानी मुनिकी एक समताकी वृत्ति होती है, इस विषयका वर्णन करते हैं।

देहहं उप्परि परममुणि देसु वि करइ ण राउ।
देहहं जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्पसहाउ ॥५१॥

परममुनि देहके ऊपर न द्वेष करता है, न राग करता है। क्योंकि उसने देहसे भिन्न आत्माके स्वभाव को, पहिचान लिया है। ये देहजन्यमें जितने भी काल्पनिक सुख हैं वे सब दुःख ही हैं। कितने ऐब हैं इस देहजन्य सुखमें? एक तो यह पराधीन है, कर्मोंका ठीक उदय हो तो विषय साधन मिलते हैं और फिर कर्मादि सहायक नोकर्म भी सहज प्राप्त हो तो कुछ सुख मिलता है, किन्तु यह स्थिति एक तो क्षणिक है और क्षणिक होते हुए भी जीवके परिणामके आधीन नहीं है। वह चाहे तो हो ही जाये, परमें ऐसी परिणति कभी हो नहीं सकती। दूसरे इस सुखमें बाधाएँ बहुत हैं। सो उन बाधावोंको सभी जानते हैं। जिसने जिस बातमें सुख माना है और सुखके लिए यत्न किया है उसमें उसे बाधाएँ ही बहुत मिलती हैं। ससारका स्वरूप ही ऐसा है कि ससारके सुखमें बाधा रहती है?

यह देहजन्य सुख बाधासहित है, इतनी ही बात नहीं है किन्तु विच्छिन्न है, नष्ट हो जाता है। भोजन करते समय कौर गुटक लेने पर फिर यह तरसता ही रहता है कि स्वाद गया। यह भीतर पेटमें कौर न जाता, मुँहमें ही बना रहता तो आनन्द रहता। कितनी देरका सुख है? इस सारी जीभसे स्वाद नहीं मिलता है। जीभके बीचमें चीज रख लो तो स्वाद न मिलेगा। इस जीभके अतकी जरा सी नोकमें यह ऐब है उस नोकमें जब तक स्पर्श रहता है तब तक स्वाद आता है। कहासे यह स्वाद आ जाता है? और कैसा ज्ञान बन जाता कि यह मीठा है, यह भला है। ये गूढ़ बातें हैं। इन गूढ़ बातों का जब हल नहीं हो पाता तो लोग यह कह देते हैं कि सब ईश्वरकी लीला है। स्वाद ले रहे हैं। सो है ईश्वरकी लीला। यह जीव अनन्त आनन्दके स्वभाववाला है। यह उपयोगमें आता है। बिगड़ता है तो कहा तक यह बिगड़े, आखिर प्रभुस्वरूप ही तो है। सो इसमें निमित्त-नैमित्तिक भावपूर्वक जैसी जो लीला होती है वह इस जीवके सम्बन्धकी लीला है। यह देहजन्य सुख नष्ट हो जाता है। इसे क्या सुख मानते हो?

ये तो दु:खस्वरूप ही है।

ये देहजन्य सुख बन्धके कारण हैं और तिस पर भी ये विषम हैं। कभी हैं, कभी नहीं, कभी बहुत हैं, कभी थोडे हैं। ये भोगनेमे तो सस्ते लगते हैं, पर बडे मँहगे पड़ते हैं। ऐसे इस इन्द्रिय द्वारा प्राप्त सुखको क्या सुख कहा जाय? वह तो दु:ख ही है। ऐसे इस देहजनित सुखको मुनिजन मन, वचन, कायसे परित्याग कर देते हैं। सर्वत्र और सर्वदा दूर रहनेके संकल्पपूर्वक कृतकारित अनुमोदनासे सुखका परित्याग कर देते हैं, और रागद्वेषरहित निर्विकल्प समाधिके बलसे निज परमात्मतत्त्वमें स्थित होते हैं।

भैया! यह निज परमात्मतत्त्व परमार्थिक अनाकुलतारूप सुखमय है। इस परमात्माका स्वरूप ही ज्ञान और आनन्द है। संकट, अज्ञान तो उपाधिका प्रतिबिम्ब है, स्वरूप नहीं है। जैसे दर्पणका स्वरूप तो स्वच्छता है। उस दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब पड़ गया है, वह प्रतिबिम्ब दर्पणमें विकार रूप है, दर्पणका स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार जो आनन्द है वह तो जीवका स्वरूप है, विलास है, विकास है और जो दु:ख है वह उपाधिका प्रतिबिम्ब है। ऐसी अनाकुलतारूप आनन्दमय निजपरमात्मामें स्थित होकर जो मुनि देहसे भिन्न निज शुद्ध आत्माको जानता है, वह ही इस देहके ऊपर राग और द्वेषको नहीं करता है। जिसकी देहके विषयमें कोई प्रलोभन नहीं लगा है, वही तो देहका साक्षी रह सकता है। कैसी उत्कृष्ट बात यह कही जा रही है कि देहमें भी ज्ञानी पुरुषका रागद्वेष नहीं रहता है। यह व्याख्यान उनको ही शोभा देता है, जो देहकी ममताको छोडकर देहके सुखका अनुभव नहीं करते हैं। चर्चा तो सभीको कर लेनी चाहिए, मगर शोभाकी बात कही जा रही है कि शोभित उन्हीं पुरुषोंको होता है, जो देहकी ममताको त्याग कर देह सुखका अनुभव नहीं करता और शाश्वत, स्वाधीन आनन्दकी उपलब्धि लिए यत्नशील रहते हैं।

जो जीव देहकी घनी ममता लिए हैं, व समाजमें अपनी पैठ करने की ममता लिए है, सो समाजमें बैठकर धर्मकी बातोंको हांकना तो चाहिए नहीं तो बड़प्पन कैसे रह सकता है? बुरी बातें कहने से बड़प्पन तो नहीं होता। कहनी तो ऊँची ही बात चाहिए, तब जाकर समाजमे बड़प्पन रह सकता है, सो इस लोकनीतिके अनुसार जो ऐसा बोले– देह अपवित्र है, भिन्न है, इस देहसे जीवका क्या मत व है? किस लिए बोल रहे हैं कि लोगोंमे मेरा बड़प्पन हो? आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे विषयासक्त पुरुषोंको यह व्याख्यान शोभा नहीं देता है। तात्पर्य यह है कि

कुछ-कुछ इसमें कदम बढ़ाना चाहिए, परिग्रहमें ममता न हो, देहमें ममता न हो, विषयोंमें ममता न हो, ऐसा अपना कुछ पुरुषार्थ करना चाहिए। तब अपने आपके उपयोगमें अपने आपकी शोभा है, किसीको कुछ दिखाने बनानेसे काम न बनेगा।

भैया! कोई न जाने, कोई न माने किन्तु यह स्वयं सहज शुद्ध पवित्र की भावना रखे तो इसका कल्याण हो सकता है। अनेक पुरुष आये गये भव छोड़कर, अपनी करनी कर गये, अब उनको यहाकी बातोंमें क्या शरण है? जिसने अपना संस्कार उत्तम बनाया, वह उस संस्कारको लेकर गया है और इस अपनी निजकी कमाईके कारण वहा भी सुख पा रहा होगा। पर यहां जीव न तो निकृष्ट रहा, पापमय रहा, किन्तु समाजमें अपने भले शृंगार से, सजावटसे बड़ी बुद्धिमानीकी मुद्रा दिखाते हुए अपनी पैठ बनायी तो यह नकल तो इस जीवको काम न देगी। सो जो तत्त्वज्ञान उत्पन्न करके निज आत्मतत्त्वकी रुचिसे धर्मकार्यमें चले तो उसको लाभ होना है। इस प्रकार उन चार बातोंमें से तीन विषयोंका वर्णन कर दिया गया कि ज्ञानी परम मुनि संत पुरुषके न तो परिग्रहमें रागद्वेष होता है और न विषयमें रागद्वेष होता है तथा न देहमें रागद्वेष होता है।

अहो! कहा हैं ऐसे ज्ञानी जीव? यहा तो जिसे जो शरीर मिला है, उस शरीरमें ही निरन्तर दृष्टि रहती है। अच्छा खावें, भला खावें, मन स्वच्छन्द करके खावें, अपना स्वार्थ सिद्ध करें, दूसरों पर कुछ भी बीते उसका कुछ भी ध्यान न हो, ऐसे मनुष्योंसे भरा हुआ यह संसार है। विरले ही संत पुरुष ऐसे हैं, जो चाहे अपने आपको कुछ दुखित करलें, पर दूसरोंको दु:खी करनेकी भावना नहीं करते हैं। सब जीवोंके सुखी होनेकी अन्तरमें भावना जगाते हैं। जिसके दूसरोंको सुखी करनेकी भावना होती है उसका यथाशक्ति दूसरोंके संकट हरनेके लिए उद्यम भी होता है, अन्यथा ये वचन भी उसको शोभा नहीं देते। दूसरोंके सुखी करनेकी भावनाकी बात मुखसे बोलना उनको शोभा नहीं देता, जो दूसरोंके सुखी करनेके लिए अपना व्यावहारिक यत्न नहीं करते हैं। किनमें राग करे? सब असार हैं, अहित हैं, ऐसा स्पष्ट परिज्ञान उन साधु पुरुषोंमें ही होता है जिन्होंने परसे और परभावोंसे भिन्न अपने आपके सहजस्वरूपका परिचय प्राप्त कर लिया है।

जगत्‌के जीव देहजन्य सुखसे अनुरक्त होते हैं, किन्तु यह देहजन्य सुख कैसा है? कहने मात्रसे सुख है, पर वास्तवमें दु:ख ही है। क्योंकि शारीरिक सुख अथवा इन्द्रियके द्वारा प्राप्त हुआ सुख प्रथम तो पराधीन है। कौनसा इन्द्रियसुख ऐसा है जो स्वाधीन है? सिनेमा देखते हैं तो पैसा

चाहिए, पिताजीसे छुट्टी चाहिए, फिर समय पर पहुचें न पहुचे, कोई बीच में बाधा आ गई। कितनी पराधीनता है? भोजन करता है तो सामान जुटावो, भोजन बनावो। सामानके लिए पैसा भी चाहिए, सभी प्रकारकी आधीनताएँ हैं। परिश्रम करे तब बने। और कितनी देरके लावें? वह एक सेकेण्डके स्वादके लिए। एक सेकेण्डके उस भोजनके सुखके लिए कितना समय व्यतीत हुआ? ६ घंटेका। और जब खा चुके तो बरतन माजते समय नानीकी खबर आती है। तो कौनसा सुख ऐसा है जो स्वाधीन हो?

देहज सुख पराधीन है, इतने पर भी बाधारहित नहीं है, किन्तु अनेक बाधाए उनके बीच आया करती है। खैर, बाधासहित भी हो, पराधीन भी हो, मगर सुख बना रहे चिरकाल तक, जब तक चाहते हैं तो भी गनीमत थी, मगर चिरकाल तक नहीं रह पाता। मुँहसे कौर निकल गया, फिर कौरसे कितनी ही प्रार्थना करो कि ऐ कौर! तू थोड़ा स्वाद और दे दे तो वह नहीं दे सकता है। विच्छिन्न हो जाता है। प्रकृति ही ऐसी है इन्द्रियसुखकी कि थोड़े क्षणको होता है और फिर विनिष्ट हो जाता है। खैर, विनष्ट भी हो जाये, मगर कोई भावी बंधन न हो जाता तो भी गनीमत थी। सो ऐसा भी नहीं है। उस सुखसे लुट भी गये और आगेके लिए बंध गये।

इन्द्रिय सुखमें अनुरक्ति होनेका अर्थ यह है कि लुट गए। तो देहजन्य सुखबंधका कारण है, और कभी कम कभी ज्यादा, ऐसी विषमता भी है। कोई एकसा ही सुख बना रहे या जैसा भी ढग हो तैसा रहे तो उसमे ज्यादा तकलीफ नहीं है। बडे होकर छोटे हो गए, छोटे होकर बडे हो गए, इन सब बातोंमे तकलीफ है। जैसा है तैसा ही रह जाये तो उसमें आपत्ति नहीं है। पर छोटे से बड़ा, बडे से छोटा होने लगे तो उसमे आपत्ति हैं। नये-नये विकल्प करना, नई-नई व्यवस्था बनाना, इसमे ही सारा समय गुजरता है। और बडे से छोटे हुए तो हींडते हैं, तरसते हैं, सोचते हैं पहिलेके बड़प्पनको और यों हींड़ कर दुःखी होते हैं। सो इन्द्रियजन्य सुखोंमें बड़ा क्लेश है। ये जितने भी देहजनित सुख हैं वे देखे हुए हो, सुने हुए हों, अथवा खुद पर गुजरे हुए हों, उन समस्त सुखोंको ज्ञानी जन, मन, वचन, काय कृत-कारित अनुमोदनासे सर्वत्र और सर्वदा त्याग करके रागद्वेष रहित निर्विकल्प समाधिके बलसे वास्तविक अनाकुलता रूप सुखमें परिणत निज परमात्मामे ठहरकर देहसे भिन्न निज शुद्धआत्माको जानते हैं। और ऐसे ही ज्ञानीजन देहके ऊपर रागद्वेष नहीं करते हैं। वे न राग करें, न द्वेष करें।

तथा विरक्त कल्पितज्ञानके बोझसे दबा हुआ पुरुष देहको क्या, कुटुम्ब को क्या सबको यह देखता है कि ये नरक की खान हैं, निगोदकी खान हैं।

ऐसा निरख रहा है क्योंकि उसके नया वैराग्य हो रहा है। जिसके ज्ञान सहित वैराग्य हो, भावुकतासे वैराग्य हो तो वह यों देखा करता है—जो ज्ञानीपुरुष है, ज्ञानसहित अपनी वृत्ति रखता है वह देहके ऊपर न राग करता है और न द्वेष करता है। जैसा है तैसा जानता रहता है। इस दोहेमें जो बात बतलाई गई है वह व्याख्यान उन जीवोंके लिए शोभा देना है जो सब प्रकारसे देहसे ममत्वको छोड़कर देहके सुखका अनुभव नहीं करते हैं। अब व्रत और अव्रतमें भी मुनिजन रागी और द्वेषी नहीं होते हैं। इस सम्बन्धमें योगीन्दुदेव कह रहे हैं।

वित्तिणिवित्तिहिं परम मुणि देसु वि करइ ण राउ।
बंधहं हेउ वियाणियउ एयहं जेण सहाउ ॥५२॥

वृत्ति और निवृत्तिके विषयमें अथवा व्रत और अव्रतके विषयमें परम मुनि न राग करता है और न द्वेष करता है अर्थात् व्रतमें राग करें और अव्रतमें द्वेष करें यह भी स्थिति उत्कृष्ट योगराजकी नहीं होती है। हालांकि सुननेमें ऐसा लग रहा होगा कि कुछ उल्टा कहा जा रहा है। अरे व्रत तो चाहिए ही और अव्रतको दूर करना चाहिए। अव्रत दूर करे और व्रतमें राग करे ऐसा कौन बुरा है? पापसे मुड़े और पुण्यमें राग करे, इसमें क्या अहित है? अहित यह है कि ऐसे उपयोगके समय इस जीवको निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूपका अनुभव नहीं रहता है। यदि ज्ञानस्वभावकी दृष्टि होती तो उसके लिए दोनों ही एक समान थे। यह उत्कृष्ट योगिराजकी बात है। उनके निर्विकार सहज ज्ञानस्वभावके अनुरूप विकासका ही लक्ष्य है। व्रतरूप प्रवृत्तिमें शुभ कषाय है और अव्रतरूप भावमें अशुभ कषाय है। व्रतकी प्रवृत्ति मन्द कषायका फल है, वीतरागताका फल नहीं है और अव्रतरूप प्रवृत्ति तीव्र कषायका फल है।

भैया! ज्ञानी पुरुषने अविकार सहज पवित्र ज्ञायकस्वभावका परिचय किया है। उसके मुकाबले तो व्रतभाव और अव्रतभाव दोनों ही एक समान भिन्न हैं और ज्ञेय हैं। परममुनि वृत्ति और निवृत्तिमें अथवा व्रत और अव्रतमें राग और द्वेष नहीं करता। कौन मुनि नहीं करता, जिसने बंधके हेतुका ज्ञान किया है अथवा व्रत और अव्रत दोनोंके स्वभावका जिसने ज्ञान किया है। इस आत्मस्वभावको प्रवृत्ति और निवृत्तिके विकल्पसे भिन्न जाना है, व्रत और अव्रतके विकल्पसे भिन्न निजस्वभावका परिचय किया है, वह पुरुष व्रत और अव्रतमें न राग करता है और न द्वेष करता है। कहा जाता है कि व्रतका विकल्प तो पुण्यका कारण है और अव्रतका विकल्प पापका कारण है, पर हैं दोनों ही बंधके कारण। व्रतसे शुभ आस्रव होता है और

अव्रतसे अशुभ आस्रव होता है। ऐसी जिसने परिणामोंकी पहिचानकी है वह शुद्ध आत्मामें स्थित होता हुआ व्रतके सम्बन्धमें राग नहीं करता है और अव्रतके सम्बन्धमें द्वेष नहीं करता है।

व्रत अव्रतकी समताकी चर्चा सुनकर यहां प्रभाकर भट्टने पूछा कि हे भगवान्! यदि व्रतके ऊपर राग करनेका तात्पर्य नहीं है तो व्रतका निषेध ही समझो। व्रतमें राग न करो—ऐसा जहा उपदेश किया गया हो उसका तात्पर्य यह है कि व्रत निषिद्ध हो गया। उत्तरमे आचार्य देव कहते हैं कि व्रतका परम अर्थ यह है कि सब शुभ अशुभ भावोंसे निवृत्ति प्रकट हो। जैसे कहा गया है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन ५ पापोंसे विरक्त होना सो व्रत है, अथवा रागद्वेष दोनों ही प्रवृत्ति हैं उनकी जो निवृत्ति है वह क्या है? उनका निषेध कर दे। रागद्वेष दोनों बाह्यपदार्थोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इस कारण सर्व बाह्यपदार्थोंका त्याग करना चाहिए। ये अहिंसादिक जो व्रत हैं वे व्यवहारसे एकदेशरूप हैं। वे किस तरह कि जीवघातमें निवृत्ति और जीवदयामें प्रवृत्ति, असत्यवचनमें निवृत्ति और सत्यवचनमें वृत्ति, चोरीमें निवृत्ति और अचोरी में वृत्ति। इस प्रकारसे यह एक देशव्रत कहा जाता है और रागद्वेषरूप संकल्प विकल्पकी कल्लोलोंसे रहित तीन गुप्तियोंसे गुप्तसमाधिमें यह व्रत परिपूर्ण व्रत होता है।

यहा यह बताया जा रहा है कि ये ५ एकदेश हैं। महाव्रत हो या अणुव्रत हो, ये एक देशव्रत अणुव्रत भी एक देशव्रत हैं और महाव्रत भी एक देशव्रत है। इसकी अपेक्षा सब निवृत्तिको सकलव्रत समझना चाहिए। अणुव्रत स्पष्ट एक देशव्रत है। पर महाव्रत भी एक देशव्रत कहा गया है। यों कहा गया है। पचमहाव्रतमें केवल निवृत्तिका परिश्रम नहीं है। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों साथ चलते हैं। जैसे जीवघातमें निवृत्ति है तो जीवदयामें प्रवृत्ति है। परमार्थ व्रत तो वह कहलाता है जहा सब प्रकार निवृत्ति ही निवृत्ति हो। तो उस सब निवृत्तिके मुकाबलेमें यह महाव्रत जिसमें प्रवृत्ति भी शामिल है वह एक देशव्रत कहलाता है। सो उस परमार्थ सकल व्रतके मुकाबलेमे एक व्रत निषिद्ध ही है। परिपूर्ण व्रत तो वहां है जहा परम समाधिमें उपयोग स्थित है। वहा शुभका भी त्याग है और अशुभका भी त्याग है। त्याग ही त्याग है, उनका ग्रहण नहीं है, सो परिपूर्ण व्रत वहा ही होता है।

इस परमसमाधि परिणामके करनेका उपाय यह है कि तीनों गुप्तियों का अपना परिणमन बनाये, इन तीन गुप्तियोंसे अपनेको परम समाधिमें गुप्त करे, जिस समाधिमे विकल्प की कोई कल्लोल नहीं उठती। समाधि

उसीका नाम है जहां रागद्वेषकी चचल कल्लोलें नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें स्थिति पाये तो वहा सफलव्रत होता है, परिपूर्णव्रत होता है। अब इसी प्रसंगमें कोई जिज्ञासु ऐसा प्रश्न करता है कि व्रत करनेसे क्या प्रयोजन है? आत्माकी भावनासे मोक्ष होगा। भरतेश्वर महाराजने क्या कोई व्रत किया? दो घडीमे ही वे मोक्ष चले गये। जिज्ञासुकी इस शका पर समाधान यह दिया जा रहा है कि तुम भरतेश्वरके सम्बन्धमें जो यह जान रहे हो कि उन्होंने व्रत नहीं किया, किन्तु भावनाके बलसे दो घडीमें मोक्ष पाया– यह जानना तुम्हारा असत्य है। भरतेश्वर महाराज भी पहिले जिनदीक्षाके प्रस्तावमें अर्थात् जिनदीक्षाके अवसरमें महाव्रतका विकल्प करके अन्तर्मुहूर्त उन्होंने गुजारा और इतना ही नहीं ७वें गुणस्थानका अन्तर्मुहूर्त गुजारा, पर इससे दूना अन्तर्मुहूर्त होना है छठे गुणस्थानका, और इतना ही नहीं किन्तु ७वें और छठवें गुणस्थान असख्यात् बार हो जाते हैं। ८वें गुणस्थानमें भी एक अन्तर्मुहूर्त गुजारा, ९वें और १०वें गुणस्थानमें भी अन्तर्मुहूर्त गुजारा और बारहवें गुणस्थानमें भी अन्तर्मुहूर्त गुजारा। तब भरत परमात्मा हुए। अब यहा यह धारणा बना लेनी चाहिए कि भले ही वे दो घडीसे मोक्ष गए, पर दीक्षा भी ली। और जितना प्रयत्न चाहिए वह सब भी हुआ। अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर देख गये, सुने गये, अनुभव किये गये, भोगोंकी आकाक्षारूप निदानबन्ध आदिक विकल्पोंसे रहित अपनी शुद्ध-आत्मा ध्यानमें निरख कर पीछे भरतेश्वर निर्विकल्प हुए।

भैया! निज शुद्ध आत्माका ध्यान जब होता है तब यह स्थिति बनती है कि मन, वचन और काय– इन तीनोंका निषेध हो जाता है। ऐसे ध्यानमें स्थित होकर पीछे निर्विकल्प हुआ। पर उनका वह काल बहुत थोड़ा था। इसलिए लोकमें महाव्रतकी प्रसिद्धि नहीं है, पर महाव्रत लिए बिना भी जीवका ऐसा परिणाम नहीं हो सकता। जो परिणाम कर्मोंकी स्थिति कम करनेका निमित्त बन जाय। कर्मोंका अनुभाग कम कर देनेका निमित्त बन जाय, उनकी प्रकृति और स्थितिबन्ध कम करनेका कारण बन जाय। सो यह सब कुछ इस दीक्षाके बाद ही होता है। मुनिव्रत धारण किए बिना ऐसे परिणाम नहीं बन सकते और कर्मोंकी ऐसी विशिष्ट निर्जरा नहीं हो सकती है, पर भरतेश्वर महाराज भी दीक्षाके समयके बाद ही मुक्त हुए। बीचका समय बहुत अधिक न था, इस कारण लोकमें प्रसिद्धि हुई कि वे तुरन्त ही मोक्ष चले गए।

कोई कहते हैं कि भरतेश्वर महाराज ऐसा कर गए तो हम भी १०-२० मिनटको साधना बना लेंगे, सारी जिन्दगी क्यों दुःखी हों? तो आचार्य

कहते हैं कि ऐसा मत कहो। जैसे लोकमें किसी एक अंध पुरुषको किसी भी प्रकार जमीनमें गडा हुआ वैभव प्राप्त हो गया तो क्या सबको प्राप्त हो जायगा? कोई अंधा जा रहा हो, रास्तेमें बेचारेके ठोकर लगी। उसने सोचा कि इस पत्थरको हम जड़से निकलवा दें तो भला। मुझ जैसे और अंधे पुरुष होंगे तो उन्हें इससे संकट न आयगा। सो उस बेचारे ने वहासे उस पत्थर को उखड़वाया। पत्थर बड़ा था, उसके उखडवानेमें कुछ देर लगी। उस पत्थरके नीचे अशर्फियोंका हन्डा मिल गया। ऐसी बात देखकर कोई और पुरुष ऐसा सोचने लगे कि यह तो धनी होनेका अच्छा उपाय है। आंखें मींचे, पट्टी बाधे, अंधे होकर चलें, और दो चार पत्थरके टुकडे सामने गाड़ दें और फिर उसे निकाले तो अशर्फियां मिल जायेंगी, धनी बन जायेंगे तो क्या यह कर्तव्य है? क्या यह कोई उपाय है धनी होनेका? हो गया एक को, भवितव्य था ऐसा, पर सभीके लिए तो ऐसा नहीं हो सकता। हो गया ऐसा विशिष्ट भरतेश्वर जैसे महापुरुषको, जिसने अपनी गृहस्थावस्थामें बहुत बहुत आत्मभावना की। घरमें रहते हुए भी वे विरागी रहे, ऐसी उत्कृष्ट साधना जिसके गृहस्थीमें होती है, वे पुरुष अन्तमें थोडे ही समयमें सिद्धपद लेकर अपना कल्याण कर सकते हैं।

भैया! जिसने पहिले ज्ञानयोगका लेश भी अभ्यास नहीं किया और मरणके समयमें कभी आराधक हो जाय तो यह ऐसे जानना जैसे कि अन्धे पुरुषको निधिका लाभ हो गया है। अन्धे आदमीके हाथमें जैसे कहते हैं कि बटेर आ जाय, चिड़िया आ जाय, यह कितनी कठिन बात है। एक तो सूझते आदमीके हाथमें भी चिडिया नहीं आ सकती है। पकडने जावो तो चार हाथ ही दूर होगे कि चिड़िया उड़ जायगी। बड़ा प्रयत्न करने पर भी चिड़िया पकड़में नहीं आती है। कदाचित् अन्ध आदमीके पकड़नेमें बटेर आ जाये तो यह कितनी कठिन बात है। ऐसे ही बडे-बडे यत्न करने पर भी निर्विकल्प समतापरिणामका धारण नहीं होता है और किसी पुरुषके थोडे ही समयमें, थोडे ही यत्नसे उस परमसमाधिका लाभ हो जाये तो यह अच्छी ही बात है, मगर यह बहुत दुर्लभपनेकी बात है।

शुद्ध परिणामोंके मुकाबलेमें व्रत और अव्रत परिणाम दोनों एक कोटिमें आते हैं। अपने उस निर्विकल्प समाधिके समक्ष व्रतका विकल्प और अव्रतका विकल्प दोनों ही समान हैं, बंधके कारण हैं। जो परममुनि हैं जिनका ज्ञान उत्कृष्ट हो गया है वह व्रत और अव्रतके परिणाममें राग और द्वेष नहीं करता है। व्रतका छोड़ना और अव्रतका ग्रहण करना, इसे ही निर्विकल्प समाधिमें लगना कहते हैं। यह व्याख्यान उनको शोभा देता है।

या यों कहिये कि उनका अलंकार होता है जो समस्त पर और परभावोंसे ममताको त्यागकर अपने आपके सहजरूपसे आते हैं। अर्थात् ऐसा उत्कृष्ट उपादान बनाओ कि जहां यह कहनेका तुमको अधिकार हो कि व्रतका परिणाम और अव्रतका परिणाम—दोनों ही एक कोटिके हैं। सो यहां यह ज्ञानी संत अपनी निर्विकल्प समाधिकी रुचि करता हुआ, इसका ही यथार्थ-ज्ञान करता हुआ और इसमें ही लीन होनेका यत्न करता हुआ वह मोक्षपद के बहुत निकट पहुच जाता है। इस प्रकार मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षका प्रतिपादन करने वाला जो यह महाधिकार चला आ रहा था, उसमें परम उपशमभावरूप व्याख्यानकी मुख्यतासे यह स्थल यहां समाप्त होता है।

अब इसके बाद यह वर्णन किया जायेगा कि निश्चयनयसे पुण्य और पाप दोनों ही समान हैं। और इसही प्रकार अन्य-अन्य युगलमें भी समान बुद्धि जगे। उनमें प्रथम सूत्रमें यह बात बतायी जा रही है कि जो यह विभावपरिणाम निश्चयसे बंधका कारण है और स्वभावपरिणाम निश्चयनयसे मोक्षका कारण है। ऐसा जो नहीं जानता है वही पुण्य और पापको करता है, अन्य पुरुष नहीं करते हैं ऐसा मनमें निश्चित करके इस सूत्रका प्रतिपादन करते हैं।

बंधहं मोक्खहं हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ।
सो परमोहें करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥५३॥

जो कोई जीव बंध और मोक्षका कारण यह खुद है अर्थात इस आत्माका विभावपरिणाम बंधका कारण है और स्वभावपरिणाम मोक्षका कारण है—ऐसा नहीं जानता है वही पुण्य और पाप दोनोंको मूलसे करता है। कौनसा विभावपरिणाम बंधका कारण है ? वह विभाव यही है-मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। निज शुद्ध आत्माका अनुभव होना, रुचि होना, इन परिणामोंसे जो उल्टा परिणाम है अर्थात् निज शुद्ध आत्मा में न अनुभूति हो, न रुचि हो, बल्कि अन्य-अन्य पदार्थोंमें और अशुद्ध उपादानमें रुचि जागृत रहे उस परिणामको मिथ्यादर्शन कहते हैं और निज शुद्ध आत्माकी प्रतीति होना, आत्माका ज्ञान होना सो तो सम्यग्ज्ञान है। उससे उल्टा अपने आपको अशुद्ध आत्माके रूपमें ही जानना सो मिथ्याज्ञान हैं। और निज शुद्ध आत्मद्रव्यको निश्चल स्थित करना सो तो सम्यक चारित्र है। पर इससे विपरीत जो वृत्ति है, अशुद्ध आत्मद्रव्यमें लगना, शुद्ध आत्मद्रव्यमें स्थित न रहना, सो मिथ्याचारित्र है। ये तीन कारण हैं बंधके। इन तीन कारणोंसे विपरीत भेदरत्नत्रय अथवा अभेदरत्नत्रयस्वरूप मोक्ष का कारण है, ऐसा जो नहीं जानता है वही पुण्य और पाप दोनों परिणामों

को किया करता है।

निश्चयनयसे तो पुण्य और पाप दोनों विभाव हैं और हेय हैं तिस पर भी मोहके वशमें यह जीव पुण्यको तो उपादेय करता है और पापको हेय करता है। दोनों ही भिन्न हैं, स्वभावके विपरीत परिणाम हैं, पर मोहवश पुण्यको तो उपादेय मानता है और पापको हेय मानता है और कितने ही मिथ्यादृष्टी जीव ऐसे भरे हैं कि वे पापको भी हेय नहीं मान पाते हैं। यह सम्यग्दृष्टी पुरुष तत्त्वज्ञानके अनुभवके बलसे दोनों विभावोंको हेय मानता है। यहा पुण्य और पाप दोनोंको समान बतलाए गए हैं। जब पुण्य और पाप दोनों समान हैं तो पुण्य और पापके कारण और पुण्य पापके कार्य ये भी समान हैं। पुण्यके कार्य हैं सुख और दुःख। पुण्यका कार्य है सुख, पापका कार्य है दुःख। सो ये सुख दुःख चूँकि इन्द्रियज हैं, काल्पनिक हैं, अतः ये भी समान हैं, भवके कारण हैं, मुक्तिके कारण नहीं।

इसी प्रकार पुण्य पापके कारणभूत जो भाव हैं शुभोपयोग और अशुभोपयोग। शुभोपयोगसे तो पुण्य होता है और अशुभोपयोगसे पाप होता है, सो ये दोनों भी समान हैं। इस तत्त्वज्ञानके समान आत्मस्वरूपके अनुभवके मुकाबले दया दान भक्ति वगैरह और विषय कषाय लड़ाई वगैरह ये सब समान हैं। तत्त्वज्ञानीको तो एकमात्र ज्ञाता दृष्टाका परिणमन ही रुचता है, इसके मुकाबले समस्त विभाव एकरूप हैं। इस प्रकार पुण्यपाप को समान बतानेसे उपलक्षणमें यह भी समझना कि पुण्यपापके कारणभूत शुभोपयोग और अशुभोपयोग भी समान हैं और पुण्यपापके कार्यभूत सुख और दुःख भी समान हैं। अब और भी दूसरी प्रकारसे पुण्य और पाप की समानता दिखा रहे हैं। वह प्रकार कहता है कि जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे परिणत आत्माको मुक्तिका कारण नहीं जानता है वही पुण्य और पापको करता है।

दंसणणाणचरित्तमउ जो णवि अप्प मुणेवि।
मोक्खह कारणु भणिवि जिय सो पर ताइं करेइ ॥४४॥

जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय आत्माको नहीं जानता है वही जीव पुण्य पाप दोनोंको मोक्षका कारण जानकर किया करता है। रत्नत्रयके स्वरूपसे अनभिज्ञ पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको समान मानकर उन्हें किया करता है। निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न रागद्वेषरहित सहज आनन्दस्वरूप एकरूप आनन्दरसके स्वादकी रुचि लेना सो सम्यग्दर्शन है और उसही निजशुद्ध आत्मतत्त्वमें वीतराग सहज आनन्दरसरूपसे रूपका सम्वेदन करना, सो सम्यग्ज्ञान है और उसही शुद्ध

आत्मतत्त्व को वीतराग सहज आनन्दस्वरूप एक परम समतारसभावसे निश्चल स्थिर होना सो सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार इन तीनोंसे परिणत आत्माको जो मोक्षका कारण नहीं जानता है वही पुण्यको उपादेय और पापको हेय मानता है, किन्तु जो पुरुष ऐसे शुद्ध रत्नत्रयसे परिणत आत्मा को ही मोक्षका मार्ग जानता है उस सम्यग्दृष्टी पुरुषके यद्यपि संसारकी स्थितिका विनाश करनेका कारणरूप सम्यक्त्व आदिक गुणोंके द्वारा परम्परया मुक्तिका कारणभूत विशिष्टपुण्यका बंध भी होता है। जैसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है तथापि वह सम्यग्दृष्टी जीवके अनीहित वृत्तिसे होता है।

सोलह कारण भावना भावो तो तीर्थंकर प्रकृति बंध जायेगा। इस कारण सोलह कारण भावना भाना चाहिए। क्या यही ठीक है? नहीं ठीक है। तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होगा, इस कारण सोलह कारण भावना भावो, यह आशय रखकर सोलह कारण भावना भाना ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छा जग गई। अनीहित वृत्ति हो। जिन्हें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है उनकी तीर्थंकर प्रकृतिकी ओर दृष्टि ही नहीं जाती। उनकी तीर्थंकर बननेकी भावना नहीं है। उन्हें तो आत्महितकी भावना है। जगतके जीव आत्महित करें, अज्ञानभावको छोड़ें, ऐसी करुणा होती है, पर मुझे तीर्थंकर प्रकृति बंधे— ऐसी भावनासहित जो पुरुष सोलह कारण भावना या किसी भी भावनाका पालन करे तो उसके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध नहीं होता है। सोलह कारण भावना अनीहित वृत्तिसे बंधती है, चाहकर नहीं बंधती है। सो यद्यपि सम्यग्दृष्टी जीवके विशिष्ट तीर्थंकर नामकर्मकी प्रकृति आदिक पुण्यकर्म आते हैं तो भी सम्यग्दृष्टि जीव उन पुण्य कर्मोंको उपादेय नहीं करता। वह सदा अपने शुद्ध आत्मतत्त्वके आलम्बनको ही उपादेय मानता है। इस प्रकार दूसरी पद्धतिसे पुण्य और पाप दोनोंको समान बताया है।

अब तीसरी पद्धतिसे पुण्य और पाप दोनोंको समान बताते हैं। वह किस प्रकार कि जो प्राणी निश्चयनयसे पुण्य और पाप दोनोंको समान नहीं मानता है वह मोहसे मोहित होकर संसारमें परिभ्रमण करता है।

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पापवि दोइ।
सो चिरु दुक्ख सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ॥ ५५॥

जो जीव पुण्य और पाप दोनोंको समान नहीं मानता, मोहसे मोहित होता हुआ, दुःख सहता हुआ संसारमें भटकता है। देखो पुण्य और पाप दोनों एक समान हैं, किस दृष्टिसे कि आत्माके शुद्ध विकासमें न पुण्य कारण है और न पाप कारण है, वे तो अशुद्ध विकासके ही सहयोगी हैं। इस

कारण ये दोनों समान हैं। तो भी असद्भूतव्यवहारनयका आश्रय करने वाला पुण्य और पाप दोनोंको भिन्न-भिन्न समझता है कि वाह पापसे पुण्य लाखगुणा अच्छा है, किन्तु अशुद्ध निश्चयका आलम्बन करके देखा जाये तो जीवका भाव पुण्य और जीवका भाव पाप—ये दोनों शुद्ध आत्मासे भिन्न हैं और शुद्ध निश्चयनयसे पुण्य पापरहित शुद्ध आत्मासे विलक्षण हैं ये पुण्य और पाप। जैसे सोनेकी वेडी और लोहेकी वेडी बंधके प्रति समान हैं। यदि बंधनका प्रसंग न हो और घरको लानेको लोहे और सोनेकी वेड़ी दे दी जाये तब तो ले लेगा, क्योंकि उसके लिए सोना बड़ा अच्छा है और जब कारागारके बंधनमें डालनेके लिए वेड़ी पहिनाई जायें तो चाहे लोहे की पहिने, चाहे सोनेकी पहिने तो उसके लिए दोनों एक समान हैं। बंधना तो दोनोंमें बराबर है, चाहे जो पहिना दें। बंधके प्रति एकत्व हैं। इस प्रकार नयविभागसे जो पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको समान नहीं मानता है, वह मोहसे मुग्ध होता हुआ इस अशरण संसारमें परिभ्रमण किया करता है।

इतना कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट पूछते हैं—तो फिर जो कोई पुण्य पाप दोनोंको समान मानकर ठहरते हैं, उन्हें फिर क्यों दूषण दिया जाता है? है ना ऐसा? और पुण्य करो चाहे पाप करो, दोनों बराबर हैं। यह तो दुनियांकी बात है। सो पूजा करो चाहे नहीं। घरमें रहो, चाहे जो करो, यह तो साधारण बात है। ऐसे जो लोग पुण्यपाप दोनोंको बराबर मानकर ठहर जाते हैं, बैठ जाते हैं, उन्हें फिर क्यों दूषण देते हो? तो आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि निर्विकल्प परमसमाधिको पाकर उन दोनोंको समान मान कर बैठ जाते हैं तब तो ठीक ही है, क्योंकि परमसमाधि अंतरंग निर्विकल्प रूप है और उसमें मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति तीनोंसे उसकी रक्षा है। इसमें शुद्ध आत्माका अनुभव जागृत रहता है, इसलिए समाधिको ध्यान में पाकर पुण्य पापको समान पाकर बैठ जाये तब तो सम्मत ही है, किन्तु ऐसी अवस्थाको न पाकर जो गृहस्थावस्थामें दानपूजा आदिक को भी छोड़ देते हैं या मुनि अवस्थामें ६ आवश्यक कार्योंको भी छोड़कर दोनों ओरसे भ्रष्ट हो जाते हैं तो उनके लिए तो दूषण ही है। तत्त्वज्ञानसे शुद्धआत्मतत्त्व का परिचय पाकर फिर तो दोनोंको समान मानना चाहिए। यह इसका तात्पर्य हुआ।

अब चतुर्थ पद्धतिसे पुण्य और पाप दोनोंको समान कहते हैं। लक्ष्य में वही बात रखी जा रही है, मगर पद्धति भिन्न-भिन्न है। आचार्य बतलाते हैं कि जिस पापके फलसे जीव दुःखको पाकर दुःखके विनाशके लिए धर्मके अभिमुख होता है वह पाप भी समीचीन है। कोई ऐसी दृष्टि बनाकर कि

वाह पुण्य बिना क्या होगा ? उदय अच्छा होगा, पुण्य होगा, सम्पदा होगी, आजीविका स्थिर होगी, पेट पालनकी चिन्ता न होगी तब तो धर्म कर सकेंगे। पुण्य बिना कैसे धर्मका काम चलेगा ? दया करना, दान करना, सब पुण्यसे ही होता है। पुण्य अच्छा है। ऐसे पुण्यका अच्छापन कुछ जिसकी दृष्टिमें आ रहा है, उसके लिए कहा जा रहा है कि अरे यों तो वह पाप भी अच्छा है जिसके फलमें दुःख मिले और उस दुःखसे धर्मकी बुद्धि जगे। ऐसा वर्णन करके पापको अच्छा नहीं बताया जा रहा है, किन्तु जो किसी दृष्टिसे पुण्यको अच्छा कहें उनके मुकाबलेमें यह बात बतायी जा रही है।

वर जिय पावइ सुंदरइ णाणिय ताइं भणंति।
जीवह दुक्खइ जणिवि लहु सिवमइ जाइं कुणंति ॥५६॥

हे जीव ! जो पापके उदयमें दुःख आये और वह दुःख शीघ्र ही मोक्षमार्गके उपायकी बुद्धि करदे तो वह पाप भी बहुत अच्छा है, ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं। यह उनका प्रत्युत्तर है जो लोग इस दृष्टिसे बैठे हों कि पुण्य बिना तो धर्म किया ही नहीं जा सकता। दान करना, पूजा करना शुद्ध भोजन करनेकी भी जब बात छिड़ती है तो खर्च अधिक देखा जाता है। शुद्धभोजन करना, पूजन करना या दान करना या किसीको आहार कराना— ये बातें पैसे बिना कैसे होंगी ? पैसा मिलता है पुण्यसे तो पुण्यका धर्मकार्यों के लगने में बड़ा हाथ है, ऐसी जिनकी दृष्टि है उनको उत्तर दिया जारहा है कि देखो पाप का भी कितना बड़ा हाथ है ? जीवको धर्ममें लगानेमें कि जिस पापके कारण जीवको दुःख उत्पन्न होता है इसलिए, उसकी शीघ्र ही मोक्षमें जाने योग्य बुद्धि हो जाती है। पुण्यसे भी कई गुणी भलेकी बात इस पापने कर दी।

भैया ! ऐसा कहकर कहीं पापको एकांततः भला नहीं बताते हैं, किन्तु पुण्य जिनकी दृष्टिमें भला जंचता हो उनकी दृष्टिमें समाधान दिया जा रहा है। लो यों देख लो। अब तो जान जावोगे कि पुण्य और पाप दोनों ही समान होते हैं। जिस दुःखमें उस दुःखके विनाशके लिये जहां भेद और अभेद रत्नत्रयात्मक श्रीधर्मकी प्राप्ति जीव करता है वह वास्तवमें पापके द्वारा उत्पन्न हुआ दुःख भी श्रेष्ठ है। कहा भी है अनेक ग्रन्थोंमें कि पीड़ित मनुष्य धर्ममें तत्पर होते हैं। कोई यों कहते हैं कि प्रभुकी याद दुःखमें आती है। शुद्ध आत्मस्वरूपकी स्मृति पीडाके समय उत्पन्न होती है। मैं तो सबसे न्यारा अकिंचन हूं, ऐसी स्मृति पहिले आए तो दुःख काहे का हो। तो सुख और दुःख दोनों बराबर हैं। जिन दृष्टियों से तुम पापको अहितकारी देखोगे उन्हीं दृष्टियोंसे पुण्य भी अहितकारी हो जायेगा। कदाचित इस पुण्यको लाभका साधक देखोगे तो उस निगाहमें दुःख भी साधक हो जायेगा। इस

कारण पुण्य और पाप दोनों को समान मानना चाहिए।

यहां प्रकरण यह चल रहा है कि जो पुण्य और पापको समान नहीं मान सकता, वह निर्विकल्प समाधिको प्राप्त नहीं होता है। इसही बातको भिन्न भिन्न पद्धतियोंसे बताया जा रहा है। यहां इस पद्धतिसे कहा जा रहा है कि निदान बंधसे उपार्जित पुण्य जीवको राज्य आदि विभूति देकर नरक आदिक दुःखको उत्पन्न किया करता है। इस कारण पुण्य समीचीन नहीं होता है। जैसे पाप दुःखका ही कारण होता है इसी तरह पुण्य भी दुःखका कारण होता है। पहिले एक प्रसंगमें यह कहा गया था कि पुण्य उत्तम अवसर पाकर धर्ममार्गमें लगनेका अगर कारण हो जाता है तो पाप भी इस जीवको दुःख देकर आत्माके विकासके लिए आत्मामें अभिमुख करा देता है। इसलिए पाप भी पुण्यके समान हितकारी हुआ। अगर पुण्य किसी दृष्टिमें हितमें लगाने वाला हो सकता है तो पाप भी कभी हितमें लगाने वाला हो सकता है। यदि पापको दुःखका कारण निरख सकते हो तो पुण्य भी दुःखका कारण निरखा जा सकता है।

मं पुणु पुण्णइं भल्लाइं णाणिय ताइं भणंति।
जीवहं रज्जइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति ॥५७॥

वह पुण्य भी भद्र नहीं है जो जीवको राज्य देकर शीघ्र ही नरक आदिक दुःखोंको उत्पन्न कराता है—ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं। आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूपमें उपयोग लगानेके लिए, स्थिर करने के लिए यह सब ज्ञान आवश्यक है। यद्यपि यह कथन व्यवहारनयका है, पर उपयोगी है, क्योंकि पुण्य और पाप दोनों ही विकारी भाव आत्माके अहितरूप समझ लेनेसे इनसे उपेक्षा होती है और अपने स्वरूपमें प्रवेश करनेका अवसर मिलता है। निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो अतीन्द्रिय सुख है उसके अनुभवसे यह भोग विपरीत है। जो भोग देखा हुआ हो, सुना हुआ हो, भोगा हुआ हो उसकी वाञ्छापूर्वक निदानपूर्वक जो दान तप आदिकसे पुण्य कमाया गया वह सब पुण्य कर्म हेय है, क्योंकि दूसरे भवमें राज्य सम्पदा आदिकको पाकर विषयभोगोंमें अधिक लगेगा। विषयों को छोड़ न सकेगा तो उससे नरक आदिकके दुःख प्राप्त होंगे। जिस पापसे राजा, महाराजा अनेक पुरुष रावण आदिक दुर्गतिके अधिकारी हुए। इस कारण पुण्य हेय होता है।

जो निदानरहित पुण्यसे रहित पुरुष हैं वे राज्य आदिक अन्य-अन्य भवोंमें भोगकर फिर उसे छोड़कर निज दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और अर्द्ध गतिको प्राप्त होते हैं। अर्द्धगतिमें दोनों आते हैं—स्वर्ग और मोक्ष। जैसे

श्री राम, बलदेव आदिक अनेक महापुरुषोंने पुण्योदयसे राज्यादिक भोगोंको पाया और फिर भोगोंको छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण की और उनमें से कोई मोक्ष गये, कोई स्वर्ग गये। तो पुण्य और पाप ये दोनों चूँकि आत्माके स्वभाव भाव नहीं हैं और जो इनकी प्रकृति है वह शान्ति उत्पन्न करने की नहीं है। इस कारण पुण्य, पाप दोनों ही समान हैं– ऐसा यहा बताया गया है। यदि पाप समीचीन नहीं है तो पुण्य भी समीचीन नहीं है। इसको इस दोहेमें सिद्ध किया है।

अब दूसरी पद्धतिसे पुण्य और पापको समान कहा जायगा। वह इस प्रकार कि जो निर्मल सम्यक्त्वके अभिमुख पुरुष हैं उन्हें तो मरण भी भला है और निर्मल सम्यक्त्वके बिना बड़ा पुण्य भी हो तो वह समीचीन नहीं है।

वरणियदसण अहिमुहउ मरणु व जीव लहेसि।
मा णियदसण विम्मुहउ पुण्णुउ जीव करेसि॥ ५८॥

अपने आत्मतत्त्वके दर्शनके अभिमुख होकर यदि मरण भी प्राप्त करें तो भी भला है, पर हे जीव! यदि अपने सम्यग्दर्शनसे विमुख होकर पुण्य को भी करेगा तो वह अच्छा नहीं है। उपयोगमे तो जब शुद्ध ज्ञानस्वरूपको ही निरखेगा तब ही वह परमशांतिमें फिट बैठ सकेगा। अपने आत्मतत्त्वको छोड़कर किसी भी पद्धतिमें बाह्यपदार्थोंके अभिमुख रहना चाहे, भोगना चाहे, तो अपने स्वरूपसे बाहर उपयोगको लगानेका परिणाम ही अशांति है। पर कोई अशाति बेचैन कर देती है तो कोई अशाति हर्ष परिणामको किया करती है। हर्ष और विषाद आत्मामें अशातिके हैं। अशाति हुए बिना न यह हर्ष परिणाम बना सकता है और न विषादपरिणाम बना सकता है।

भैया! कभी गोष्ठीमें खडे हुए लड़कोंको किसी प्रसगमें बहुत तेज हँसते हुए आप देखेंगे तो यह भी निरखते जाए कि ये कितना बेचैन होकर हस रहे हैं? इनके हसनेमें बेचैनी नजर आती जायगी। और कभी हसकर वे अपनेमें दुःख भी पैदा कर देते हैं। गला धस जाय, पेट दर्द करने लगे, बहुत जोर-जोरसे मुह बाये, क्या ये सब शातिके काम हैं? नहीं। ये सब अशांतिसे होते हैं। तो हर्षपरिणाम और विषादपरिणाम इन दोनोंके मूलमें अशाति है, पर रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टिसे उत्पन्न हुआ जो सहज आल्हाद है, वह शातिपूर्वक नहीं है। वह तो अशातिसे ही हुआ करता है। अपने स्वरूपके अभिमुख होकर जो जीव मरण भी करे तो हित-रूप ही है, क्योंकि स्वरूपस्थिरताके साथ मरण हो तो वह स्वरूप स्थिरता

का संस्कार और परिणाम अगले भवमें प्रारम्भ होने लगता है, और जिस किसी भी प्रकार कुछ समय तक चाहे यह स्थिरता विचलित हो जाय और प्राय: होती ही है।

मरणके बाद सम्यग्दृष्टि भी हो वह अगले जन्ममें जाता है और वह अन्तर्मुहूर्त तक तो अशक्त रहता है। विशेष धर्म पालनेमें जब मनुष्य जन्म पाता है तो यह ८ वर्ष तक अशक्त रहता है और फिर जब वह बड़ा होने लगता है तो फिर कुछ समय बाद वैसी ही बात होने लगती है। निज-दर्शन निष्फल नहीं जाता है। निजदर्शनके अभिमुख होकर मरण भी हो तो भला है, और आत्मदर्शनसे विमुख होकर बडे-बडे पुण्य भी करे तो भी भला नहीं है।

भैया! जिस कामके किए जानेका जो तरीका है, उस ही तरीकेसे उस कामकी पूर्ति होती है। अपने दोषरहित रूपके अनुभव और रुचिरूप वर्तनाको सम्यग्दर्शन कहते हैं। निश्चय सम्यक्त्व- विपरीत अभिप्रायरहित आत्मप्रतीतिको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। इस आत्माका असाधारण स्वरूप है ज्ञान, ज्ञायकस्वभाव और ज्ञानका काम है मात्र जानन। तो यह ज्ञान जाननका काम करता है। वह जानन मात्र जानता है। जाननके स्वरूपमें अन्तर कुछ नहीं है। ऐसा यह शुद्धतत्त्व निर्दोष है, मेरे स्वरूप निर्माणके साथ कोई दोष लगा हुआ नहीं है। भेददृष्टिसे ज्ञानी जीवके भी जो राग-द्वेषादिक दोष होते हैं, वे इस जाननमें नहीं होते हैं, किन्तु इस मिथ्यादृष्टिकी आत्मभूमिमें वह दोष हो जाता है और यह अपने असाधारण स्वरूपमय अपना विश्वास नहीं करता है। इस कारण अपनी उस जाननकलाको तो गौण कर देता है और रागद्वेषादि विकारोंकी प्रधानता दे देता है। सो क्रियामें अहंबुद्धि हो जाती है। मैं जानता हूं, मैं समझता हूं, पर यह आत्मा जानन ज्योतिके अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं रहा। ऐसा निर्दोष परमात्मतत्त्व है।

निर्दोष परमात्मा हैं अरहंत और सिद्ध देवता। इसमें तो किसीको शंका नहीं होती। वे स्पष्ट प्रकट निर्दोष हैं, पर स्वकीय निर्दोष परमात्मतत्त्व क्या है? इसको अपने आपमें निरखना है तो अपने असाधारण लक्षणसे शुरू किया जाय। मेरेमें असाधारण लक्षण अथवा गुण है ज्ञान प्रतिभास। उस प्रतिभासमें अपने चैतन्यगुणकी ओरसे कोई दोष नहीं होता है अथवा दोष भी हो रहे हों आत्मामें तो भी उस समय भी प्रतिभासमें दोष नहीं है, किन्तु प्रतिभासके साथ जो चारित्रगुणका श्रद्धा गुणका, विकार लग रहा है, उस विकारमें प्रतिभास तो हो जाता है गौण और वह विकार हो जाता है

इस मोही जीवकी दृष्टिमें मुख्य।

जैसे एक दर्पण है। उस दर्पणके सामने दर्पणके विस्तारसे कई गुणा विस्तार वाला पदार्थ सामने रख दिया जाय तो सारा दर्पण प्रतिबिम्बित हो जाता है, बिम्बमें चित्रित हो जाता है, पर दर्पणमें सर्वत्र छाया झलक जाने पर भी उस दर्पणमें निजी स्वच्छता है अथवा नहीं। यदि कहा जाय कि दर्पणमें स्वच्छता कतई नहीं है तो फिर वह प्रतिबिम्बित कैसे हो गया? जिन-जिन पदार्थोंमें ऐसी स्वच्छता नहीं होती, जैसे भींतहै, दरी है, तो कितना ही यत्न करो, कितनी ही चीजें सामने रखो, पर प्रतिबिम्ब नहीं पडता। दर्पण और छायाका प्रतिबिम्बित होना ही उस दर्पणकी स्वच्छताका अनुमान कराता है। इसी प्रकार रागादिक विकार इस जीवमें हो रहे हैं। सर्वत्र आत्मप्रदेशमें होने पर भी आत्मामें स्वच्छता है अथवा नहीं? यदि आत्मामें प्रतिभास नामक स्वच्छता न हो तो रागादिक विकार झलक ही कैसे गए? रागादिक विकारोंका होना ही इस बातका अनुमान कराता है कि यहां चैतन्य नामक स्वच्छता है। उस स्वच्छताकी पहिचान जिन्हें हो जाती है उन्हें आत्मदर्शन हुआ समझिये। ऐसे आत्मदर्शनके अभिमुख होकर तो ये जीव भला है, पर अपने इस दर्शनसे विमुख होकर पुण्य भी किया जाय तो भी भला नहीं।

भैया! हित इसमें है कि निर्दोष निज परमात्माकी अनुभूति हो, जो कि तीन गुप्तियोंसे गुप्त निश्चय चारित्रका अविनाभूत है, वीतराग सक्षक हैं वह निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। निश्चय सम्यकदर्शन होने पर स्वरूपाचरण होने लगता है। स्वरूपाचरणकी स्थिरताके कितने ही स्थान हैं। चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सिद्ध पर्यन्त सब जगह स्वरूपाचरणकी वर्तना चलती है। पर स्वरूपाचरणके भिन्न-भिन्नपनेमें भिन्न-भिन्न स्थितियां हैं। चतुर्थ गुणस्थानमें स्वरूपकी रुचि, स्वरूपकी प्रतीतिसे अभिमुख होना एतावन्मात्र स्वरूपाचरण है। पंचम गुणस्थानमें इससे विशेषता होती है। और-और ऊचे ऊचे गुणस्थानोंमें स्वरूपाचरण विशेषित होता हुआ परमात्म अवस्थामें स्वरूपाचरणकी पूर्णता हो जाती है। अनन्तानुबन्धीकषायके दो काम होते हैं– एक चारित्रका घात करना और एक सम्यग्दर्शनका घात करना। अनन्तानुबन्धीके न रहने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। जहा अनन्तानुबधके न रहने पर जाननमात्रका स्पर्श स्थैर्यरूप चारित्रक। गुप्त विकास होता है, वहीं स्वरूपाचरणका अश आने लगता है।

निश्चयचारित्रका अविनाभूत यह निश्चयसम्यक्त्व है, उसके अभिमुख होते हुए हे जीव! मरणको भी पा ले तो उसमें दोष नहीं है। किन्तु

निज दर्शनके विना पुण्य भी करे तो भी भद्र नहीं है। सम्यक्त्वरहित जीव पुण्य सहित भी हो, पाप जीव कहलाता है, क्योंकि उसके मूलमें, आशयमें मिथ्या, अधकार पडा हुआ है, और इस लोकमें किसीका कुछ ज्ञान न हो और कोई धुनसे, धर्मकी क्रिया प्रवृत्तिमें चले तो उसके प्रति लोगोंका जैसे यह ख्याल हो जाता कि यह धर्म नहीं कर रहा है, कुछ दिमागकी खराबी है। जैसे एक वही भैया ना, जो अपने पास आते हैं, वे अच्छी बात बोलते हैं, अच्छे सजे हुए शब्द बोलते हैं, और धर्मकी बातें करते हैं, फिर भी लोगोंके मनमें यह ठहरता है कि इनको दिमागकी खराबी है।

इस तरह सम्यक्त्वरहित पुरुष अपनी इच्छासे भीतरमें कल्याणकी भावना भी रख रहा हो कि हमको उत्तम सुख मिले और यत्न भी करता हो, किन्तु सिद्धि नहीं है, क्योंकि परम कल्याणमय पदकी खबर नहीं है उसे, अन्यथा अज्ञान नहीं कहा जा सकता पर जैसा सुन रखा है अथवा भोगनेमें जो सुख आता है। उससे कई गुणा ऊँचा सुख मिले, उस सुखमें कल्याण मानकर कल्याणकी भावनासे तप आदिक करते हैं, पुण्य कार्य करते हैं तो भी सम्यक्त्वरहित हैं, उसके आशयमें मिथ्यात्व पड़ा हुआ है, इसलिए वह पाप जीव कहा जाता है। और सम्यक्त्वसहित जीव जो पूर्वभवोंमें उपार्जित किये हुए पापके फलको भोगता है तिस पर भी वह पुण्य जीव कहलाता है। क्योंकि उसके अन्तरमें वस्तुस्वरूपका सम्यक् अवबोध है, सो इस कारण सम्यक्त्वरहित पुरुष मरणको भी प्राप्त हो जाय तो भी भद्र हो सकता है।

सम्यक्त्वरहित पुरुष पुण्यसे निदान बन्धको और भोगोंको प्राप्त करके भवांतरमें नरकादिको जाता है। निदान करनेसे चीज मिल जाय, ऐसा नियम नहीं है। पर किसी तप, धर्म, मदकषाय और-और बातें अधिक हो, और निदानमें तुच्छ बात चाहे तो उसे निदानकी बात मिल जाती है। नहीं तो निदानमें सभी जीव ग्रस्त है, फिर तो यह बहुत सरल तरीका हो जायगा कि भोगोंकी चाह किये जावें और जो चाहो सो मिल जायगा, तो नहीं मिलता है। उसके पास पूंजी हो, उससे भी ऊंचा फल चाहे तुच्छ तो निदान से वह फल मिल सकता है। ऐसे पुण्य निदानको बाध करके भोगोंमें निरत करके पीछे सम्यक्त्वरहित पुण्य वाला जीव नरक आदिकको प्राप्त होता है। कहा है कि कई ग्रन्थोंमें कि नरकका वास भी भला है यदि सम्यक्त्व करके सहित हो तो। सम्यक्त्व सहित नरक पद हो तो भी अन्तरमें वहा निराकुलता चलती है। कुछ यद्यपि नारकीयोंके द्वारा भी कुटता पिटता है और ऐसी बात नहीं है कि केवल कुटता पिटता ही है, दूसरोंको भी कूटता है, पर सम्यक्त्वकी जो कला है, जो स्वरूपकी प्रतीति कराती है उस कलाके कारण

वह फिर भी अन्तरमें अनाकुल होता है, और व्याकुल भी बहुत होता है पर वह व्याकुलता स्वरूपमें नहीं लेता है। ऐसी सम्यक्त्वकी महिमा है।

सम्यक्त्वसहित नरकका वास भी भला है, पर सम्यक्त्वरहित पुरुष स्वर्गमें भी निवास करे तो वह शोभायमान नहीं है, भला नहीं है। मनुष्यगति में दुःख कोई कमाने खानेका नहीं है। कमाने खानेकी कितनी आवश्यकता है, केवल साधारणसे यत्नसे ही गुजारा हो सकता है। मनुष्यभवमें पुण्योदय इतना प्रबल रहता है कि तिर्यञ्चोंकी अपेक्षा अधिक अच्छा है। खाने पीने के लिए कोई कष्ट नहीं करना पड़ता है। यहां कष्ट खाने पीनेका नहीं है, पर दुःख लगा रखा है इज्जत पोजीशन वगैरहका। असली कष्ट तो यहां पर इस बातका है कि लोकमें इज्जत चाहिए, पोजीशन चाहिए, शृंगार चाहिए, अच्छे साधन चाहियें। यदि सीधे सादे मोटे कपड़े एक दो पहिन लिये और सीधा सात्विक भोजन किया तो मात्र इतनेके लिए कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता है, सहज श्रमसे ही चल जाता है, पर इज्जत, पोजीशन नाम बढ़ाना इसकी तो कुछ सीमा नहीं है। जैसे कितना धन हो जाय तो धनी कहलाये ऐसा किसीने आज तक निर्णय कर पाया? कितनेको धनी बोला करते हैं? इसका निर्णय हो ही नहीं सकता है। वैसे ही कितना नाम, कितनी इज्जत बढ़ जाय तो मनुष्य कृतार्थ हो जाय कि अब कोई काम करनेको नहीं रहा? ऐसी सीमा है क्या?

तो भैया! मनुष्यको दुःख किस बातका है कि सभी इज्जत, पोजीशन, आराम चाहते हैं। हम आपको जितना दुःख है उससे कई गुणा दुःख देवों को है क्योंकि देव तो और बेकार रहते हैं। न उन्हें दूकान करना, न लेनदेन करना, न कमाई करना, न इन्डस्ट्रीज चलाना, कुछ काम नहीं करना। उन देवों की चर्चाकी जा रही है जो सम्यक्त्वरहित हैं। उनके लिए रात दिन समान हैं, वे चौबीसों घंटे बेकार ही तो रहते हैं। तो हम आपसे लाखों गुणा दुःख देवों को हैं। तो जिन जीवोंको इज्जत, पोजीशनकी धुन रहती है वे ही जीव दुःख उठाते हैं। सम्यक्त्वरहित होकर जीवका स्वर्गमें भी निवास हो तो वह भला नहीं है। इस तरह आत्मदर्शनसे विमुख होकर पुण्य किया जाय तो उसका फल क्लेशकारी है। अतः पुण्य और पाप दोनों समान हैं। जो पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको समान निरख सकते हैं ही जीव संसारके दुःखों को दूर कर सकते हैं। अब इस ही अर्थको अन्य प्रकारसे दृढ़ करते हैं—

जे णिय दंसण अहिमुहा सोक्खु अणंत लहंति।
तिं विणु पुण्णु करता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥ ५९ ॥

जो अपने दर्शनके सम्मुख हैं, वे तो अनन्तसुख पाते हैं और जो

जीव अपने दर्शनसे रहित हैं, वे पुण्यको करें तो भी अनन्त दुःखको भोगते हैं। क्योंकि शांतिस्वरूप तो आत्माका स्वरूप ही है और शांतस्वरूप ज्ञायकभाव पर दृष्टि हो तो शांति करे। अपने आत्मतत्त्वकी दृष्टि न हो और बाहरी क्रियाकांड दान तप आदिक भी करे तो भी सम्यग्दर्शन यदि नहीं है तो दुःख को ही सहते हैं। एक निश्चय निज शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो, रुचि हो तो यही निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपने शुद्धआत्माका अर्थात् मात्र चैतन्यस्वरूपका परिणाम हो तो यही निश्चयसम्यक्त्व है। अपना शुद्ध स्वरूप है ज्ञानमात्र। जैसे चौकीमें क्या चीज धरी है? रूप, रस, गंध, स्पर्श। इसी तरह आत्मामें क्या चीज भरी है? अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्तशक्ति। आत्मामें और क्या मिलेगा? पर अपनी ओर जिनकी दृष्टि नहीं है, उन्हें न अन्तरमें कुछ मिलता है और न बाहरमें कुछ मिलता है। निश्चय सम्यग्दर्शनके अभिमुख हुआ जीव इसही भवमें अनन्त अक्षय सुखको प्राप्त करता है।

भैया! जो मोक्षगामी जीव होते हैं उनको मोक्ष मिलना किधर है? बाहरके किसी स्थानमें पहुंच जानेका नाम मोक्ष नहीं है। मोक्ष तो अपने अन्तरका परिणाम है। जहां शुद्धज्ञानका ही अनुभव है, किसी तरहका विकार नहीं है उसीका नाम मोक्ष है। जहां विकार है उसीका नाम संसार है। तो विकार कैसे मिटेगा? विकाररहित आत्माका अनुभव करें तो विकार मिटे। अपने को विकाररूप मानते रहें कि मैं इतने परिवार वाला हूं, इतने बच्चों वाला हूं, इस रूप हूं-इस तरह विकाररूप ही अपनेको मानता रहे तो वह कैसे संसारसे मुक्त हो सकता है? कितने ही लोग तो इसी भवमें मोक्ष गए जिन्होंने सम्यग्दर्शनकी रुचि की। जैसे पांचों पाण्डव ही थे, उनमें से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो इसी भवसे मोक्ष गए, नकुल और सहदेव ये स्वर्गमें गए, पर वहांसे सर्वार्थसिद्धमें गए और वहांसे चलकर मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे। तो जिसके सम्यग्दर्शन होता है वह इस भवमें अथवा अगले भवमें अक्षयसुखको प्राप्त करता है और जो सम्यक्त्व रहित है वह बहुत पुण्य भी करे तो भी अनन्त दुःख ही भोगता है।

इस दोहेमें क्या बात बताई कि सम्यग्दर्शनके बिना पुण्य भी दुःखका कारण है। यह प्रकरण चल रहा है पुण्य और पाप दोनोंको समान बताने का, कि पुण्य और पाप दोनों ही बराबर हैं। पुण्यसे भी अनर्थ है और पापसे भी अनर्थ है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रके साथ यदि पुण्य लगा रहता है तो पुण्य अनर्थ नहीं कर सकता है। और सम्यग्दर्शन न हो, पुण्य हो तो यह पुण्य पापसे भी ज्यादा अनर्थ करेगा। तो पुण्य

और पाप दोनों ही समान हुए। यदि पुण्यके साथ धर्म हो तो विशेष सिद्धि होती है। तो पुण्यके म तिशय प्रन.पमें धर्मकी महिमा हुई। पुण्य और पाप दोनों ही एक समान हैं। पापसे भी दु खका अनुभव है और सम्य क्त्वरहित पुरुषका पुण्य भी दु खका अनुभव कराता है। जो पाप और पुण्य दोनोंको समान समझ सकता है वह ही इस ससारसे तर सकता है।

भैया! यदि पुण्य हुआ तो उसमें वासना बनी रहती है कि पुण्यसे परिवार अच्छा मिलेगा, धन सम्पदा मिलेगी, स्वर्ग मिलेगा। ये चीजें आत्मा के लिए हितकारी नहीं हैं। अपने आत्मस्वरूपमें रत होना, यही आत्माके हितवाली चीज है। बाकी जितने भी ठाठबाट हैं ये सब दु ख देने वाले हैं। कोई पुरुष धनी है तो वह धनके विकल्पसे दु खी होता है। इससे तो अच्छी गरीबी हुई। तो पुण्यका उदय हो यही दु खका कारण हुआ। यदि धन बढ गया तो उसकी व्यवस्था करनेका विकल्प होता है, खाने पीने तक की भी फुर्सत नहीं रहती है। पर जिसके सम्यग्दर्शन है उसके यदि पाप का भी उदय है तो भी वह सदा अनाकुल रहता है, क्योंकि उसे पता है कि क्लेशरहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही मेरा स्वरूप है। इस तरह पापकी तरह पुण्य भी अनर्थकी जड है। उन दोनोंकी उपेक्षा करके रत्नत्रयरूप धर्मकी ओर आवो, आत्माका दर्शन करो, आत्माका ज्ञान करो, आत्माका ही आलम्बन करो। और तो बाहरी पदार्थ जीवको अनर्थ ही कराने वाले हैं। अब पुण्यका निराकरण करनेके लिए यह दोहा कहा जा रहा है।

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पाव ता पुण्ण अम्ह मा होउ ॥६०॥

कहते हैं कि पुण्यसे तो वैभव मिलता है, और वैभवके मिलनेसे अहकार होता है, अहकार करनेसे मति भ्रष्ट होती है, मतिभ्रष्ट होनेमें पाप होता है। तो कहते हैं कि ऐसा पुण्य हमे न चाहिए जिसके प्रतापसे अन्तमें पाप मिलता है और नरकगतिमें जाना पडता है।

देख लो भैया! पुण्यके उदयका क्या काम है? विकारमय भाव हों, धन सम्पदा मिले, इज्जत बढ़े, पोजीशन बढ़े, प्रतिष्ठा बढे, यही तो हुआ और इज्जत, पोजीशन, प्रतिष्ठा बढनेसे घमड बढ गया, अभिमान हो गया तो इससे बुद्धि भ्रष्ट हो गई। बुद्धिका भ्रष्ट करने वाला अभिमान होता है। जब मनुष्यमें अभिमान होता है तो वह गिर जाता है। जब तक मनुष्यके अभिमान नहीं होता है तब तक बुद्धि ठीक रहती है। विनयसे ही बुद्धि ठीक चल सकती है। अहकारमें आ जानेसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। जगत्में क्लेश ही और क्या है? अहकार हुआ, क्रोध हुआ, मायाचार हुआ, लोभ

हुआ — ये ही चार कषाय इस जीवके लगे हुए हैं। जिसके कारण यह जीव क्लेशमें है। अभी साक्षात् ही देखलो—यदि कोई मनुष्य किसी मनुष्यपर क्रोध करता हो तो क्रोध करने वालेका कुछ पुण्य पहिले ही खत्म हो गया। ऐसे क्रोधी पुरुषको इस दुनियामें ही कौन महान् कहता है? भले ही बड़ा पुरुष हो तो चाहे सामने विनयपूर्वक बोल दें पर अन्तरसे उस क्रोधी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा खत्म हो जाती है। जिसके मायाचार हो उसका मायाचार जब विशिष्ट हो जाता है तो कोई भी पुरुष उस मायाचारी पुरुषका आदर नहीं करता है। ऐसे ही यदि कोई लोभी पुरुष हो, कंजूस पुरुष हो तो वह किसे सुहाता है? किसीको भी तो वह नहीं सुहाता है।

भैया! कोई भी मनुष्य धनके संचयसे नहीं बड़ा होता है। धनके त्यागसे बड़ा होता है। यदि किसीको लोग बड़ा मानते हैं तो धनके त्यागसे बड़ा मानते हैं। अगर धनके त्यागकी भावना नहीं है, कजूसी है तो वह कितना ही धनका ढेर करले, पत्थरकी तरह है क्योंकि वह न खुदके काम आ सका और न दूसरोंके काम आ सका और न उसकी संसारमें इज्जत हो सकती है। तो लोभसे भी कोई सिद्धि नहीं होती है। जिस पुरुषके ये चारों कषाय मंद हुए हैं उस पुरुषके पुण्य बढ़ता है, प्रसन्नता बढ़ती है। यदि चारों कषाय मंद हो जायें तो वहां कुछ धर्मका अंश है, पर जितना कषाय रह गया है उतना तो अधर्म ही है। यह संसार है, इसमें परिभ्रमण लगा हुआ है। आना जाना पड़ रहा है। आप ही लोग कभी छोटे बच्चे थे, खेलते थे, लोग खिलाते थे, बड़ा बड़ा प्यार करते थे। अब बड़े होगए, सारी चिंताएं करने लगे, वृद्धावस्था होने लगी फिर यहांसे मरण करके चले गए, फिर कहीं जन्म लिया। इस प्रकारका चक्र इन जगत्के जीवोंका चल रहा है।

भैया! पिछले भवका कुछ ख्याल भी है क्या? कहां घर था, कैसे लोग थे, किस गतिमें थे, किस ढंगके थे? तो जैसे पूर्वभवकी बातोंका आज ख्याल नहीं है तो इस भवसे जाने पर दूसरे भवमें भी कुछ ख्याल रहेगा क्या? यहां के मकान, वैभव, लोग, ये कुछ मदद दे देंगे क्या? जब अगले भवमें ये कोई मदद न कर देंगे तो थोड़े समयके वास्ते इनसे मोह क्यों किया जा रहा है? मोह करनेसे, राग बढ़ानेसे, कषाय करनेसे पुण्य नहीं मिलता, पाप ही होता है। तो कर्तव्य यह है कि यदि अपना कल्याण करना है, अगला भव ठीक बनाना है तो इन बाह्यचीजोंसे मोह छोड़ो। धर्ममें बुद्धि लगावो, कुछ समयको अपना घर छोड़कर सत्संगमें रहो। ममता छूटे तभी सिद्धि हो सकती है। तो इस पुण्यके होनेसे वैभव मिलता है, वैभवके मिलने से मद होता है, मदके होनेसे बुद्धि भ्रष्ट होती है और बुद्धि भ्रष्ट हुई कि

नाना विषय, नाना पाप होने लगते हैं। तो कहते हैं कि जिस पुण्यके होनेसे अन्तरमें पाप बनते हैं। नरक आदिकमें दुःख भोगे हैं, हमें उस पुण्यको न चाहिए। हमें तो आत्माका दर्शन चाहिए।

कोई गरीब भी हो और आत्मदर्शन होता हो तो लोकमें सच्चा अमीर वही है। और यह वैभव भी बहुत हो और आत्मदर्शन न हो सके तो वह गरीब ही है। उसकी कोई सिद्धि नहीं है। सो पुण्य और पाप दोनोंको समान समझिये। इन पुण्य और पाप दोनोंसे ही आत्माका हित नहीं है। पुण्य तो आत्माके शुद्धदर्शनसे बढ़ता है। सो इस स्थलमें पुण्यके सम्बन्धमें वर्णन किया गया है कि इस पुण्यमें चूंकि भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय की आराधना नहीं रहती है, भोगोंकी आकाक्षा और निदानबन्धका परिणाम रहता है तो ऐसे परिणाम वाले जीवके द्वारा जो धर्म उपार्जित होता है, वही मद और अहकारको करता है और अन्तमें बुद्धिका विनाश करता है, पर जिसके सम्यक्त्व है उसका पुण्यबन्ध बिगाड़ नहीं कर पाता है। पुण्य सभी को बरबाद नहीं किया करता है। जिसके अज्ञान साथ लगा है उसको पुण्य मद पैदा करता है। यदि सभी जीवोंको यह पुण्य मद करने लगे तो बड़े-बड़े महापुरुष, तीर्थङ्कर चक्रवर्ती, पाडव आदिक बड़े-बड़े पुण्यवान् पुरुष हुए, श्रीराम भगवान् आदि बड़े महापुरुष हुए तो वे पुण्य आत्मा जब मदके अहकारके विकल्पको छोड़कर मोक्ष गए, उनके अहकार न बन सका।

अज्ञानी हो तो उसके पुण्यसे अहंकार आ जाता है, क्योंकि अपनी आत्माके शुद्धस्वच्छस्वरूपका उसे ज्ञान नहीं है। अपने पर्यायको ही मान लिया कि यह मैं हू। जो मनुष्यदेह है उसको ही समझ लिया है कि यही मैं हू। जब यह माना कि यही मैं हू तो जो ज्ञानमात्र है, विनयपूर्ण है उसकी तो खबर नही रही। इस अज्ञानसे ही अहकार उत्पन्न होता है। जिस सम्यग्दर्शन परिणामके बिना यह जीव दुर्गतिका पात्र होता है और उस दुर्गतिमें यों पुण्य मदद देता है। सम्यग्दर्शन न होनेसे यह पुण्य इस जीवको दुर्गतिमें पहुचाता है तो सम्यक्त्वके बिना पुण्य भी दुर्गतिका कारण बन जाता है। कहते हैं कि वह पुण्य भी मेरे मत हो। मेरे तो सम्यक्त्व जगे। आत्मदर्शन ही बने। आत्मदर्शनके बिना इस जीव ने घरके दो-चार जीवोंको ही अपना मान लिया। जगत्के और जीव उसके लिए कुछ नहींके बराबर दिखते हैं। अपने घरके बेटा बेटीको मान लिया कि ये ही मेरे सब कुछ हैं। अपना तन, मन, धन, सब कुछ उन्हींके पीछे लगाते हैं, दुनियाके और बाकी सब जीवों के प्रति यह भावना नहीं उत्पन्न होती है कि ये भी तो हमारे समान हैं। यहा कौन किसका बन्धु [illegible] शत्रु है ?

आज जो तुम्हारे घरमें नहीं उत्पन्न हुए हैं, क्या यह नहीं हो सकता है कि वे ही पूर्वभवमे तुम्हारे सगे बन्धु रहे हों ? कौन तुम्हारा बन्धु है और कौन तुम्हारा शत्रु है ? जो जीव आज घरके प्रसगमें मिले हैं उनसे क्या सम्बन्ध है ? बतलावो ! वे तुम्हारे सुख दु:खमें मदद कर सकते हैं क्या ? नहीं। उनके सुख दु:खमें तुम मदद कर सकते हो क्या ? नहीं। किसीका किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। लेकिन ऐसा अज्ञानका माद्दा है कि ये घर के दो चार जीव ही मेरे सब कुछ हैं। उन कुटुम्बियोंके ममत्त्वसे ही ये जीव क्लेश पाते रहते हैं, विकल्प बनाते रहते हैं। वे अपने घरके प्राणियोंको क्षण भरके लिए भी नहीं दूर कर सकते हैं, निरन्तर अपने उपयोगमें उनको ही बसाये रहते हैं। मेरे घरमें इतने लोग हैं, मेरे इतने मकान हैं, ऐसा सस्कार बनाते हैं और दु खी हुआ करते हैं। इस तरहसे वे अपने चैतन्य-स्वरूपका विकास नहीं कर पाते हैं। तो कुछ तो सोचना ही चाहिए। मोह-मोहमें ही अपनी जिन्दगी बिताई तो कौनसा लाभ पा लिया ? कुछ भी नो हाथ नहीं आता है।

भैया ! जिसके सम्यग्ज्ञान है, आत्मदर्शन है उसके वचनोंमें सत्य बसा हुआ है। जो ज्ञानी पुरुष है, वह जानता है कि जगत्के ठाठ बाठसे हमारी आत्माका उत्थान नहीं है। मैं ही अपना उत्थान कर सकता हू। उसे दुनिया की चीजोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहा तो वह झूठ नहीं बोलता, उसके वचनोंमे सत्य बसा हुआ है। उसकी बुद्धिमें शास्त्र बसा हुआ है। जो ज्ञानी पुरुष है उसकी बुद्धिमे जो बात आयेगी वह शास्त्रमें मिलेगी। वह तो शास्त्रको पढ़ कर अपना आचरण बनाता है। पर ज्ञानी पुरुषका आचरण स्वयमेव ऐसा होता है कि जैसा शास्त्रोंमे बतलाया हुआ है। तो जो आत्मद्रष्टा है उसकी बुद्धिमे संयम बसा हुआ होता है। उसमें अपने स्वार्थकी ऐसी खुदगर्जी नहीं होती कि दूसरे जीवोंका चाहे कुछ भी बिगाड़ सुधार हो, पर अपना स्वार्थ पूरा होना चाहिए। ऐसी बात ज्ञानियोंके चित्तमे नहीं होती है। दूसरोंका बुरा सोचकर अपना भला करे, वह बात ज्ञानियोंमे नहीं आती है। दूसरे भी भले हों और हम भी भला करें, ऐसी बात ज्ञानीकी अन्तरङ्ग आवाजमें होती हैं।

निज शुद्धस्वभावके रुचिया पुरुष विक्रमी पराक्रमी होते हैं। गन्दे विषयोंकी बातोंमें न भटकना, इनसे अलग हटे रहना उसे कहते हैं वास्तविक पराक्रम, और वह पुरुष कायर है जिसके विषयोंकी प्रीति जगी, विषयोंका झुकाव हो। शूरता तो भोगोंके तजनेमे है, भोगनेमें नहीं है। जो पराक्रमी पुरुष है उनको पुण्योदयसे वैभव भी मिल जाय तो वे याचकोंको अपनी

लक्ष्मीका दान किया करते हैं। वे जानते हैं कि धनके कमाने वाले हम नहीं हैं। ये हमारे हाथ पैर धन कमाने वाले नहीं हैं, पूर्वभवमें पुण्य और धर्म किया था इसलिए यह धन स्वयमेव आता है। कोई सोचे कि हमने अपनी बुद्धिसे काम किया, अपने हाथ पैरोंसे परिश्रम किया, सो धन आया, ऐसी बात नहीं है। अरे! बहुतसे लोग हम आपसे दसगुना श्रम करते हैं तो भी उनके पास धन नहीं आता है, वे तरसते रहते हैं। बुद्धि नहीं कमाती है धन, हाथ पैर नहीं कमाते हैं धन। यह तो पूर्वभवके पुण्यके प्रसंगकी कमाई है। तो धर्मी जन तो याचकोंको दान करते हैं। वे जरा भी हिचक नहीं करते। ऐसे होते हैं आत्मदृष्टी ज्ञानी पुरुष। और मुक्तिके मार्गमें लगना तो उनका स्वाभाविक गुण है। वे संकटोंसे मुक्त होनेके मार्गमें लगते हैं।

भैया! यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपकी दृष्टि हो जाय तो विकार भाव नहीं रहता है, इसीके मायने हैं मोक्ष। इस मोक्षके लिए इस ज्ञानी आत्मदृष्टी पुरुषका यत्न होता है। जो पुरुष अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण निज चैतन्यस्वरूपका भान कर चुके हैं, वे पुरुष निरभिमानी हैं। उनको किसी भी गुणपर अहंकार नहीं होता है। ऐसे पुरुष उन पुराणोंको पढ़ते हैं, जिन पुराणोंमें ऐसे ही महापुरुषोंके चरित्रका वर्णन है जो गुणोंसे सम्पन्न रहे, दोषोंसे दूर रहे, उनके चरित्रको बाचनेसे अपने आपमें भी एक उत्साह जगता है।

जरा जगत्के जीवों पर दृष्टि तो कीजिए— जीव कितना दुःखी है? जरा घरसे निकलो, सडक पर ही चलो तो, वहां देख लो थोडा ही, वहां घूम आवो तो सर्वत्र देखोगे कि कोई तांगा हाक रहा है, बूढा घोड़ा है पर १०-१२ लोग बैठे हुए हैं। नहीं चलता है तो कोडे मारे जा रहे हैं। गाड़ियोंमें भैंसे जोते रहे हैं। तमाम बोझा लादे हैं, जीभ निकली आ रही है। बड़ी मुश्किल से चल पाते हैं, फिर कोडे लगाये जा रहे हैं। सुवरोंको जैसा चाहे पकड़ कर वध कर देते हैं। मुर्गा-मुर्गीको यों ही सीधा आगमें जला देते हैं। कैसे कैसे कष्ट इन जीवोंको हैं? यह परकी कहानी है क्या? अरे! यह अपने खुदके प्रभुकी कहानी है। इस भवको छोड़कर हम थोडे ही जायेंगे। कुछ तो अपने आपके इस जीव पर दया करो। कितने ही लोग मोहमें ही रम-रम कर अपना जीवन बिताये जा रहे हैं। इस मोहसे तो कोई सिद्धि नहीं हो सकती है। वर्तमान समागमके सम्बन्धमें हर्ष मत मानो। ये सब समागम बिछुड जायेंगे। थोडे समय तक रहने वाले शरीरसे मोह करनेका फल बहुत बुरा मिलेगा। जो स्वयं आनन्दका घर है, प्रभुका स्वरूप है, स्वच्छ ज्ञान-मय है, ऐसे स्वरूपकी भावना करो, परमात्माकी उपासना करो तो

अनाकुलता हो सकती है, कर्म कटेंगे। धर्मकी परम्परा मिलेगी, प्रभुता प्राप्त हो जायगी, पर मोह ममताके परिणामसे न वर्तमानमें आनन्द मिल सकता है और न आगामीकालमें आनन्द मिल सकता है। इस प्रकार इस स्थलमें पुण्य पापको समान बताया है। जो दोनोंको समान मानेगा वह मोक्षके सुख को प्राप्त होगा।

उक्त प्रकरणमें यह बताया गया था कि जो जीव पुण्य और पाप दोनोंको समान समझ सकता है उसको मोक्ष हो सकता है। एक तो ऐसा गहन मिथ्यात्वदृष्टि जीव ही हो सकता है, जो पुण्य और पाप दोनोंको समान माने या बहुत बड़ा ज्ञानी पुरुष हो सकता है जो पुण्य और पाप दोनोंको समान माने। मिथ्यादृष्टी तो यों मानता है कि उसको पापोंमें रुचि है सो वह पापोंको महत्व देता है। यों बात सुनकर कि शास्त्रोंमें है बताया कि पुण्य और पाप दोनो बराबर हैं तो अपने मतलबकी बात निकालें। पुण्य भी वैसा ही है, पाप भी वैसा ही है। लगे रहें खूब अपनी इच्छाकी पूर्तिमें। एक तो बड़ा मूर्ख होगा जो पुण्य और पाप दोनोंको समान समझ सकता है या बहुत ऊँचा ज्ञानी पुरुष होगा, जो पुण्य और पाप दोनोंको समान समझ सके। मध्यके लोग तो यह भेद करेंगे कि पापसे पुण्य भला है। ज्ञानी पुरुष यों दोनोको समान समझेगा कि पापोदय बुरी चीज होती है, तो पुण्योदय भी बुरा है। और पुण्योदय कहीं अच्छा है, तो पापोदय भी कहीं अच्छा है। एक समान दोनो हैं।

जैसे लोग कहते हैं कि यदि पुण्य हो, आजीविकाके साधन हों तो धर्म करते बनता है। फिर चित्त भी धर्ममें लगता है तो देखो खाने पीने वगैरहकी सुविधायुक्त पुण्य हो तब तो धर्मका भी समय निकले। खाने पीनेके ही लाले पडे रहते हैं, रात दिन विकल्प मचा कर खाने पीनेकी ही सुविधा नहीं बनायेंगे तो क्या आगे बढ़ेंगे? तो देखो पुण्य अच्छा है कि नहीं। कुछ समझ में आया। हां, पुण्य अच्छा तो हुआ। अच्छा तो इस ओर देखो कि पापका उदय है, उससे दुःख पैदा होते हैं। दुःखोंके विनाशका उपाय धर्म है। दुःखों के विनाशके लिए धर्मकी ओर चित्त जा रहा है तो देखो पापका उदय भला हुआ कि नहीं? हां, समझमें आया कि यह भी भला है। अच्छा पाप बुरा है ना? हां बुरा है, क्योंकि पापके कारण बुरी गतिमें जाना पड़ता है, बड़े बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। अच्छा जरा इस ओर देखें— पुण्यसे मिला वैभव, वैभवसे हुआ अहंकार। अहंकारसे बुद्धि भ्रष्ट ही हुई और बुद्धि भ्रष्ट होने से पाप हुए और उससे मिला नरक। तो पुण्यने कहां पहुंचाया? खोटी गति में। सो पुण्य भी बुरा है। कितने ही दृष्टान्तोंसे निरखते जावो, पुण्य और

पाप दोनों समान मिलते चले जायेंगे। यह ज्ञानी पुरुषका चिंतन है, और यह कथन उन्हीं पर शोभा देता है जो पापको छोड़कर शुभ परिणतियोंमें लगे हैं। और जो पुण्यको छोडे बैठे हैं, पापमें रत हैं, उन्हें यह शोभा नहीं देता है कि पुण्य और पाप दोनों समान हैं।

अनेक पद्धतियोंसे पुण्य और पाप दोनोंको समान बताया जाने पर अब यहां क्रमसे दो दोहोंमें यह बतायेंगे कि अच्छा पुण्य कैसे होता है और बढ़िया पाप कैसे होता है? किन कामोंके करनेसे बुरा पुण्य होता है और किन कामोंके करनेसे पाप होता है? प्रथम दोहेमें यह कहा। अब पुण्य किस प्रकार से होता है, उसकी मुख्यतासे वर्णन कर रहे हैं।

देवहँ सत्थहँ मुणि वरहँ भत्तिए पुण्णु हवेइ।
कम्मक्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥६१॥

कहते हैं कि वीतराग देव और वीतराग देवके द्वारा प्रणीत कार्योंमें लगे हुए साधुजन इनके भक्ति करनेकी मुख्यतासे पुण्य होता है। दूसरी दृष्टि से देखा जाये तो इस भक्तिरूप शुभभावसे कर्मक्षय नहीं होता है— ऐसा निष्कपट सत पुरुष कहते हैं। यह सूक्ष्मवृत्तिकी चर्चा चल रही है। यह कथन दोहेमें ही लिखा हुआ है कि देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिसे पुण्य होता है और कर्मक्षय नहीं होता है, पर कर्मक्षय जिनको होता है उनकी पहिली अवस्था देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिरूप, होती ही है। सम्यक्त्वपूर्वक देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति विना किसी जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती है। फिर भी देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिका परिणाम स्वय मदकषायरूप है, शुभ अनुरागरूप है। और अनुरागका स्वभाव यह है कि वह कर्मक्षयका कारण नहीं होता है। ऐसा नहीं है कि कोई अनुराग कर्म बांधता हो और कोई अनुराग कर्म नष्ट करता हो। यावन्मात्र अनुराग है, राग परिणाम है, सबका स्वभावकर्म बधका है। ऐसा प्रकृतिकी ओरसे निरखे तो इस शुभपरिणामका कर्मक्षय नहीं होता है। सम्यक्त्वपूर्वक देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिके द्वारा मुख्यतासे पुण्य ही होता है, मोक्ष नहीं होता है। सम्यक्त्वपूर्वक भक्ति है ना, तो वहा जितना सम्यक्त्व और चारित्रका अंश चलता है अव्यक्तरूपसे प्रवृत्ति करता हुआ भी उतना तो कर्मक्षयका साधन बना हुआ है इस जीवके, किन्तु जो अनुरागरूप परिणाम है, उस अनुरागरूप परिणामकी मुख्यतासे पुण्य ही होता है, मोक्ष नहीं होता है।

यहा जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि यदि मुख्यवृत्तिसे पुण्य मोक्षका कारण नहीं है तो फिर उपादेय भी नहीं होना चाहिए। अर्थात् त्यागने योग्य होना चाहिए, ग्रहण योग्य नहीं है और जो ग्रहण योग्य नहीं है तो बडे-बडे

महापुरुष राम, पांडव, भरत, बडे-बडे सत पुरुषोंने पचपरमेष्ठीका इतना स्मरण क्यों किया ? दान, तप आदिक क्यों किया ? सर्व शुभ अनुरागसे निर्भर अर्थात् अधिकारता को भोगता हुआ फिर पुण्यका उपार्जन क्यों करे और हम भी क्यों पुण्यार्जन करें ? तो आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि जैसे कोई भी पुरुष अन्यदेशमें रहता हो, अपनी स्त्रीके गावमें रहता हो, तो वह पुरुष अपनी स्त्रीकी खबर लेनेके लिए उससे बातें करता है, सन्मान आदि करता है। तो उस दान सन्मान आदि करनेका प्रयोजन क्या है ? क्यों करता है ? वह स्त्रीके गावका आदमी स्त्रीकी कुछ खबर पहुचाता है, जानकारी कराता है इसलिए वह पुरुष उसका सम्मान करता है। उससे बोलता हैं। इसी प्रकार इन सव महापुरुषोंको जो कि ज्ञानसुधारसके प्यासे थे अथवा अविकार अवस्थामें झरने वाले आनन्दरसके प्यासे थे, जहां वीतराग परमानन्दकी अवस्था होती है ऐसे उत्तम रसको पीते हुए उन महापुरुषोंने ससारकी स्थितिके छेदन करनेके लिये, विषय-कषायसे उत्पन्न हुए दुर्ध्यानसे वचनेके लिये, अपने आत्मध्यानके अवसरके लिये दान पूजा आदिक परमेष्ठीकी भक्ति गुणस्मरण आदि कार्य किये।

भैया ! देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिसे तत्काल दो लाभ होते हैं। एक तो विषय कषाय दुर्ध्यानसे बचना होता है और दूसरे अपने आत्माकी सुधि होती है। वैसे ये सव वहिर्मुख रहनेके दंड है। हे प्रभो ! मैं बहुत वहिर्मुख रहा करता हू, उसके ही प्रायश्चित्त रूप ये सव स्तवन वदन आदि प्रसिद्ध होते हैं। ये हमारे प्रतिक्षण प्रायश्चित्त हैं। यदि पापवृत्ति न जगती, बाह्य पदार्थोंमें उपयोग न होता, बाह्यपदार्थोंमें अभिमुखता न होती तो मैं ज्ञानमय ही था और मुझे दान, तप, व्रत आदि वृत्तियोंमें श्रम न करना पड़ता। यह सब प्रायश्चित्त है उन सव दुर्ध्यानोंका, लेकिन पहिला लाभ तो यह है कि विषय-कषाय आदिक खोटे ध्यानसे हटना हो जाता है। प्रभुभक्तिमें दूसरा लाभ यह है कि अनन्तशक्तिका अपने आपमें विश्वास और दर्शन हो जाता है। इन्हीं कारणोंसे ये सब कार्य ससारकी स्थितिके छेद करनेके भी कारण हैं। पर इसमें सूक्ष्मदृष्टिसे स्वरूपभेद किया जाये तो जितना अनुरागरूप परिणमन है वह कर्मक्षयका कारण नहीं है और जितना श्रद्धा और चारित्र का विशुद्ध परिणमन है वह मोक्षका कारण है।

यहा इतना ही भाव लेना है कि उन पंचपरमेष्ठियों की भक्ति आदिसे परिणत पुरुषोंको बिना ही चाहे पुण्य आता रहता है। जैसे किसान लोग खेती करते हैं तो गेहू, चने आदि उत्पन्न करनेके लिए करते हैं, पर भूसा,

पुराल आदि ये सब बिना श्रम किए, बिना इच्छा किए प्राप्त होते ही रहते हैं। यह है पुण्यका प्रयत्न और वैसे साधारण पुण्य तो किसी की सेवा करनेसे, परोपकार करनेसे, दूसरे जीवोंका दुःख मिटानेसे, अनेक कामोंसे पुण्य होता है। पर महान् पुण्य बनता है तो वह देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिसे बनता है। सम्यक्त्वपूर्वक पुण्यके इस प्रकरणमें पुण्यकी निन्दा नहीं की गई है किन्तु सम्यक्त्वरहित जीवोंके पुण्यकी निन्दा जरूर की गई है कि अज्ञानी जनोंका पुण्य एक बहुत बड़ा सकट पहुचानेके लिए है। पर सम्यक्त्वसहित पुरुषका पुण्य तो ऐसा ही शुभ अवसर लानेके कारणभूत है कि जिसमें इस जीवको मोक्षमार्गकी रुचि होती जाये। पर सर्वत्र जो अनुरागका अश है, पुण्यका अश है वह तो एक बधरूप ही है, वह मोक्षमार्ग रूप नहीं है।

अब जिस प्रकार उच्च पुण्य बधका उपाय बताया गया है इसी प्रकार बड़े पाप बधकी भी बात बतलाते हैं कि विकट पाप कैसे बधता है?

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ।
णियमें पाउ हवेइ तसु जे ससारु भमेइ ॥६२॥

देव शास्त्र और मुनिवरोंकी जो निन्दा करते हैं, उनसे ईर्ष्या रखते हैं, द्वेष करते हैं उनके नियमसे पाप होता है और उसके फलमें वे ससारमें भ्रमण करते हैं। ये देव शास्त्र मुनि कैसे हैं कि साक्षात् पुण्यबधके हेतुभूत हैं। इनका आश्रय आदि करनेरूप अपनी भक्ति बने, सगति बने तो महान पुण्य बध हो। जो अपने महान् पुण्यबधके आश्रयभूत हैं और जो परम्परया मुक्तिके कारणभूत हैं, अथवा अपने लिए वे निमित्तदृष्टिसे मुक्तिके कारणभूत हैं ऐसे देव शास्त्र मुनियोंकी जो निन्दा करते हैं, द्वेष करते हैं, उनके नियमसे पाप होता है और उस पापबधसे ससारमे परिभ्रमण होता है। ये देव शास्त्र गुरु आदि हमारे व्यवहार सम्यक्त्वके विषयभूत हैं और निश्चयसम्यक्त्वके परम्परया कारण हैं।

निश्चयसम्यक्त्व क्या कहलाता है? निज परमपदार्थकी उपलब्धि, अपने आपमें ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि, ज्ञानस्वरूपकी रुचि, विपरीत आशय रहित ज्ञानस्वरूपका दर्शन होना, सो निश्चयसम्यक्त्वका भी परम्परया जो निमित्तभूत है और तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्त्वके विषयभूत है—ऐसे देव, शास्त्र मुनियोंकी जो निन्दा करता है वह मिथ्यादृष्टी होता है। अपना व्यवहार परकी निन्दारूप होनेमें कुछ लाभकारी नहीं होता है, दोष हो तो क्या, न हो तो क्या, पर दोषोंपर जब उपयोग चला जाता है तो पहिले स्वयका उपयोग दोषमय हो जाता है। उपयोगका विषयभूत तो दोष हो ही गया और ज्ञान ज्ञेयाकारमय हो गया है तो जो दोषका ज्ञान किया है तो

वह ज्ञान भी दोषाकारमय हो गया। तो किसीके दोष दिखानेका अथवा निन्दा करनेका अथवा किसीके दोषके कारण ईर्ष्या करनेका भाव है तो पहिले स्वय दोषमय हो जाता है। यदि स्वय दोषमय न बने तो दूसरेके दोषकी दृष्टि नहीं कर सकता है। तो उस दोषदृष्टिसे स्वयका क्या लाभ हुआ? स्वयमे कौनसी स्वच्छता बढा ली, कौनसा प्रयोजन साध लिया? और फिर देव, शास्त्र और मुनियोंकी निन्दा करनेसे, विद्वेष करनेसे तो उसका उपभोग पहिले बहिर्मुख हो जायगा, मिथ्यात्व हो जायगा। देव, शास्त्र और गुरुकी भक्ति नहीं है, रुचि नहीं है तो वहा मिथ्यात्व है, मिथ्यात्वसे पापका बन्ध होता है और पापके कारण बहिर्मुखतारूप ससारमें परिभ्रमण होता है।

इस तरह इन दो दोहोंमें यह बताया गया कि देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिसे पुण्यका बन्ध होता है और देव, शास्त्र, गुरुकी निन्दा करनेसे पहिले पापका बन्ध होता है। अब इन पूर्व इन दो दोहोंमें कहे गए पुण्य और पाप फलको बताते हैं। उस पुण्यसे क्या फल मिलता है और उस पापसे क्या फल मिलता है?

पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णे अमरु वियाणु।
मिस्से माणुस गइ लहइ दोहिवि खइ णिव्वाणु ॥ ६३ ॥

ये जीव पापके उदयमें नारकी और तिर्यञ्च बनते हैं, और पुण्यके उदयसे देव होते हैं। और पुण्य और पाप दोनोंके मिश्रणसे नरकगतिको प्राप्त करते हैं और पुण्य पाप दोनोंके क्षय होने पर ये निर्वाणको प्राप्त करते हैं। पुण्य और पाप दो चीजे हैं। तो इनमें चार विभाग हो गए। पुण्य से क्या होता है? पापसे क्या होता है? पुण्य पापके मिश्रणसे क्या होता है? और पुण्य पाप दोनों न हों तो क्या होता है? पुण्य एक, पाप एक, उभय एक और अनुभय एक। इन चार पद्धतियोंसे ये परिणाम बताये जा रहे हैं।

पापसे यह जीव नारकी बनता, और तिर्यञ्च बनता है। ये दोनों गति पापरूप हैं। पुण्यसे यह जीव अमर बना। पुण्यके फलमें देवोंकी प्रसिद्धि है। उन्हें कितना सुख है, खाना नहीं, पीना नहीं, कमाना नहीं, घर न बनाना, कोई काम करनेकी जरूरत नहीं। केवल खेलना कूदना, सुख भोगना, मन चाही जगह विहार करना, उनके पास कितनी ऋद्धि है, कितना वैभव है, कितना ठाठ बाठ है। तो पुण्यमें प्रसिद्धि देवोंकी है। यहां पाप पुण्य छोड़कर मोक्षमें लगनेकी दृष्टिको बताया जा रहा है। नहीं तो पुण्यका फल सर्वाधिक मनुष्योंमे हो सकता है। जिसकी इन्द्र भी स्तुति करे, वन्दना पूजन करे वह मनुष्य ही हो सकता है। क्या देवको कोई परम आराध्य मानकर पूजता है? नहीं। किन्तु यहा प्रकरण यह है कि पाप और पुण्य इन दोनोंसे ससार

चलता है, और दोनोंका अभाव हो जाय तो वहां मोक्षकी प्राप्ति होती है। इस दृष्टिका यहा वर्णन है। अत बताया गया है कि पुण्यसे यह जीव देव होता है। पुण्य और पाप दोनोंके मेलसे मनुष्यगति प्राप्त होती है। कोई देव हो तो वह मर कर कहा जायगा ? देवके बाद तुरन्त देव नहीं हो सकता है। उसकी गति मनुष्यकी है। तो उस देवगतिके जीवके पुण्यका फल है मनुष्यगति।

यहा समझाया जा रहा है मनुष्यगतिके जीवोंको। उनके लिए यह ठीक बैठता है कि पापसे नारकी, तिर्यञ्च हुए, पुण्यसे देव हुए और दोनोंके मिश्रणसे मनुष्यगति हुई। और पुण्य पाप दोनोंका अभाव हो जाये तो उन्हें मोक्ष होता है। यहां नरक और तिर्यञ्चगतिका जो पापका उदय बताया गया है वह ऐसा कठोर पापकर्म है कि छेदन आदिक अनेक दु ख फल देने में समर्थ है। ऐसा विकट पाप होता है देव, शास्त्र, गुरुकी निन्दा करनेसे। जो बहुत आसान लगता है, बैठे-बैठे गप्प चला बैठे, देव, शास्त्र, गुरुवोंको तोड़ मरोड़ दें, निन्दा और विद्वेषके लिए मनमें भावना जग जाय, उन भावनावोंका परिणाम कुत्सित फल है। पाप, बन्धन आदिक जो नरकगतिके बड़े दु ख हैं उनके देनेमें समर्थ है। देखो तो कहा तो परमात्माका स्वभाव सहज शुद्ध ज्ञानानन्दमय और कहाँ ऐसे कठोर विभावपरिणाम कि मोक्षमार्गके कारणभूत देव, शास्त्र, गुरुका भी विद्वेष जग जाय– ऐसे महान पापसे यह जीव नरक और तिर्यञ्च गतिका पात्र होता है।

यह पुण्यका उदय भी आत्माके शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपसे विपरीत है, विलक्षण है। पुण्यके उदयसे यह देव होता है। पुण्य और पाप दोनोंके मिश्रण से जो कि शुद्ध आत्मस्वरूपसे विपरीत है उससे मनुष्य बनता है। पुण्य पाप दोनों कर्मोंके क्षयसे मुक्ति होती है। उन कर्मोंके क्षयका उपाय है शुद्धोपयोग अर्थात् अपने आपमें अनादि अनन्त जो सहजस्वरूप है अर्थात् अपने सत् के कारण स्वरसत जो अपना स्वरूप है उस स्वरूपका परिचय हो जाना, निज शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान् हो जाना व उस शुद्ध आत्मतत्त्वके ज्ञातृत्वकी स्थिरता होना। निज शुद्ध आत्माका अर्थ है परसे भिन्न केवल अपने स्वरूपमय निज आत्मतत्त्वसे श्रद्धान्से, ज्ञानसे और इस ही शुद्ध आत्मतत्त्वमें उपयोगको स्थिर करनेसे मुक्ति हो जाती है।

अनेक ग्रथोंमें यह सब कथन बताया गया है कि पापसे नरक और तिर्यञ्च होता है, पुण्यसे देव होता है, पुण्य पाप दोनोंके मिश्रणसे मनुष्य बनता है, और पुण्य पाप दोनोंके क्षयसे जीव निर्वाणको प्राप्त होता है। इन सब बातोंको जान कर हमें यह शिक्षा मिली कि हम अपने निज शुद्ध आत्म-

स्वरूपको और भावोंकी जानकारीमें अपना पुरुषार्थ बनाएं, जिसके फलमें सदाको मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

विंदणु णिंदणु पडिकमणु पुण्णहं कारणु जेण।
करइ करावइ अणुमणइ एक्कुवि णाणि ण तेण ॥ ६४ ॥

जगत्‌के वासी हम आप सब जीव व्यक्त अथवा अव्यक्त दोनों रूप से प्रतिक्षण दुःखी हो रहे हैं। कभी यह दुःख हर्षके रूपमें प्रकट होता है तो कभी यह दुःख विषादके रूपमें प्रकट होता है। जो जगत्‌में वैभव पाकर हर्ष के मारे प्रसन्न होते हैं, फूले नहीं समाते हैं उनकी इस हर्षप्रवृत्तिका कारण भी आकुलताएं हैं, और जो जीव अन्य घटनावोंके कारण विषाद करते हैं उनके भी आकुलताएं हैं। सारांश यह है कि जगत्‌का कोई भी जीव सुखी नहीं है। उस दुःखके विनाशके लिए एक धर्म ही समर्थ है। उस धर्मके करनेके दो रूप हैं। एक बहिरंगरूप और एक अन्तरंगरूप। आन्तरिकरूप तो एक ही प्रकारका है वह है अपना निर्पेक्ष स्वतःसिद्ध निज असाधारणस्वभाव दर्शनका होना। इस ही को कहते हैं कारणसमयसार। इस ही को कहते हैं परमात्मतत्त्व। यही है वास्तविक प्रभुता। अपनी प्रभुताके दर्शन हों, चैतन्य-स्वभावके दर्शन हों, यह तो है धर्मका आन्तरिकस्वरूप, और धर्म करनेका बहिरंग रूप है अपने पूज्य पुरुषोंकी वन्दना करना, अपने आपकी निन्दा करना, तपस्या करना, दोष लग जाय तो उस दोषका प्रतिक्रमण करना, अपने गुरुवोंसे निवेदन करना। गुरु जो दंड दे उसका पालन करना आदिक समस्त धार्मिक क्रिया कांड हैं, धर्मके व्यावहारिक रूप।

जिस पुरुषका आन्तरिक धर्म दृढ नहीं है और चलित हो जाता है, विषयकषायमें प्रवृत्त हो जाता है, ऐसे पुरुषके दोषकी शुद्धिके लिए और आन्तरिक रूपकी पकड़के लिए उन्हें आराध्यदेवकी वन्दना करनी चाहिए, अपने आपकी निन्दा करनी चाहिए। कोई दोष आए तो गुरुवोंसे निवेदन करना, ये सब कर्तव्य हैं, पर जिस क्षण अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो अपना निर्पेक्ष स्वरूप है, उसके ज्ञानके प्रकाशमें जो चैतन्यस्वरूपकी अनुभूति होती है उस अनुभूतिसे परिचयी जीवोंको, ज्ञानियोंको ये वन्दना, प्रतिक्रमण आदिक जितनी वृत्तिया है, वे वृत्तिया नहीं हैं। तब अपने शुद्ध चैतन्य प्रकाशकी अनुभूतिमें लीनता है। दोषोंकी शुद्धि प्रधानतासे इस आत्मदर्शनसे ही होती है। मनुष्यजन्म तब सफल है जब किसी भी क्षण आत्मदर्शन हो सके। आत्मदर्शनसे विमुख पुरुष तीन लोककी सम्पदासे रहित हो जाने पर भी गरीब ही है। और आत्मद्रष्टा पुरुष बाह्यकी कोई वस्तु न आए तो भी सर्व समृद्धिसे पूर्ण है।

भैया ! जिसे जो समागम मिले हैं वे सब छूट जाते हैं। संग, मित्र, परिजन जो कुछ मिले सब छूट जाते हैं। ये जब तक साथ भी हैं तब तक वस्तुत' ये दु ख देने के लिए हैं। परद्रव्योंके कारण मेरेमें कुछ सुधार और बिगाड़ नहीं होता है। मैं ही अपने स्वरूपसे चिगकर विषयवासनाव.को बना लेता हू तो मैं ही अपना शत्रु बन जाता हू। और जब विषय पाप आदि विभावोंसे हट गया, अपने शुद्ध जाननस्वरूपमें उपयुक्त हो गया तो मैं ही अपना रक्षक हू, शरण हू। जैसे ये अनाचारसे चलने वाले पुरुष किसीको सहायता नहीं पहुचाते और न किसी पर कृपा करते हैं, पर जो सदाचारसे चलते हैं उनकी दस भाई सहायना भी करते हैं, वे अपने किसी नाते से सहायता नहीं करते हैं, सदाचारके नातेसे सहायता करते हैं। इसी प्रकार यदि जगत्में किसी समागमसे जीवोंके द्वारा कोई सुख साताका बर्ताव होता है तो वह किसी अधिकारके कारण नहीं होता है, किन्तु इस जीवका ही सदाचार है, ज्ञान है, सद्व्यवहार है। पहिले था, इस कारण यह सब सद्-व्यवहार होता है। हमारे हम ही रक्षक हैं।

हमारे जो दोष होते हैं उन दोषोंको दूर करनेका अमोघ उपाय एक मात्र जो कभी निष्फल नहीं होता है और अनेक उपाय करनेके बाद भी किए एकका सहारा लिया जाता है वह उपाय है अपने आत्माके जाननस्वरूपका जानन कर लेना। कोई बात होती है तो उसका स्वरूप जरूर होता है। जब ज्ञान कोई तत्त्व है, जानन कोई भाव है तो उस जाननका भी स्वरूप कुछ जरूर है। वह यद्यपि अमूर्त है, ग्रहणमें नहीं आता है, पर जाननका स्वरूप जरूर है। स्वरूप हुए बिना भाव नहीं होता है, तत्त्व नहीं होता है। तो उस तत्त्वका जो स्वरूप है उसकी जानकारी करके और एतावन्मात्र मैं हू, और इतना ही मेरा कार्य है, इसके अतिरिक्त और सब औपाधिक चीजें हैं, मेरे स्वरसत उत्पन्न भाव नहीं हैं—ऐसा जब अपने आपके जाननस्वरूपका दृढ ज्ञान होता है तो वे सब दोष समाप्त हो जाते हैं। व्यवहारमें गुरुजनोंकी वंदना करना, स्तवन करना, विनय करना, तप, व्रत आदि करना—ये सब एकमात्र स्वभावके दर्शनके लिए हैं। और स्वभावदर्शन जब नहीं होता है, ये सब बातें होती हैं तो वहां पुण्यकी वृद्धि है, पर मोक्षकी प्राप्ति नहीं है।

भैया ! मोक्ष मिलता है ज्ञानसे। यह आत्मा केवल जाननमात्र रह जाय उसहीका नाम मोक्ष है। मोक्ष कहते हैं छुटकारा पानेको। स्कूलसे जब बच्चोंको छुट्टी मिलती है तो उस समय जो बच्चोंको आनन्द होता है उस आनन्द की तुलना भोजनके आनन्दसे नहींकी जा सकती है, खेलने कूदने, देखने के आनन्दसे नहीं की जा सकती है। वह छुट्टी पानेका आनन्द एक विलक्षण

आनन्द है। जहां किसी दूसरेसे कुछ न मिले, स्वयं ही अपने आपमें आनन्द हो। हम आप पर कर्म और रागादिक का सकट छाया है। इन सकटोंसे छुट्टी मिल जाने पर जो आनन्द आता है उस आनन्दकी तुलना किसी भी मिले हुए आनन्दसे नहीं की जा सकती है। वह स्वयंके ही स्वरूप है। यह वहिर्मुखना अर्थात् अपने आपकी ओर दृष्टि न रहकर किसी बाह्यकी ओर दृष्टि रहना यही सबसे बड़ा अंधेरा है और यही गहन पाप है। और अपने ही अन्तरमें अपनेको देख लेना इससे बढकर और कोई अमीरी नहीं है। जिसके चित्तमें यह जम गया है कि बहिर्मुखता ही पाप है और अन्तर्मुखता ही धर्म है तो वह वहिर्मुखना का सर्वथा त्याग करता है।

भैया! जिसके चित्तमें यह बात आ जाये कि वहिर्मुखता ही बड़ी बुराई है तो बाह्यप्रवृत्तिया करते हुए भी उसके भार नहीं रहता और उसके ससार बढ़ाने वाला बंध नहीं होता। लक्ष्यविहीन पुरुष अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकता है। जैसे एक तखरिया है, तराजू है, इस पर बाटोंको इधरसे उधर रखे, लक्ष्य कुछ न रखे और ऐसे ही करते रहें तो कोई सिद्धि नहीं होती है। लक्ष्य जिसका बन गया वह धीरे-धीरे ही सही अपनी बात बना लेता है। जो अपने लक्ष्यको दृढ़ बनाए रहे तो वह अपने लक्ष्यको पूरा कर सकता है। लक्ष्यविहीन मनुष्य किसी भी प्रकार अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकता है। मनुष्यजन्म पाकर अपना क्या लक्ष्य बनाना चाहिए? धन वैभवका लक्ष्य तो सकटोंसे भरा हुआ है। मान लो हो गए लखपति, तो आत्मामें कौनसी समृद्धि हुई, कौनसा बड़प्पन हुआ? बल्कि जितना ही धनसचित हो जायेगा उतनी ही आकुलता बढ़ जायेगी। मोही, अज्ञानी पुरुषों द्वारा दो-चार प्रशसाके शब्द सुनने को मिल जायेंगे तो इससे क्या आत्माका पूरा पड़ जायेगा? धन बढ जानेसे धनसे उन्मत्त होकर अपने स्वरूपके दर्शनका मार्ग भी भ्रष्ट हो जायेगा। धन बढने की ही धुनि रह जायेगी। यदि धन बढ़ गया तो उससे क्या मिल गया? परिवारके लोग बहुत बढ़ गए, आठ दस लडका, लडकी पोते हो गए तो उससे आत्माका कौनसा बड़प्पन हो गया। खूब विचारकर देख लो, आत्माका बड़प्पन, आत्माका हित केवल अन्तरोन्मुख होनेसे है।

भैया! अन्तरोन्मुख होनेसे सर्वसंकटोंकी समाप्ति हो जाती है। मेरा मेरे लिए कहीं कुछ नहीं है। इसी भवमें हम खुदके रक्षक हैं। दूसरोंकी रक्षा तो अपने आप हो ही रही है। दूसरे पुरुषकी कोई दूसरा पुरुष रक्षा नहीं कर रहा है। इन बच्चे बच्चियोंका भाग्य है, सो सब होता रहता है। पर यह केवल विकल्प ही करता है। अन्तरोन्मुख होनेसे एक ऐसे सुधारसका पान

होता है जिससे पुण्यवृद्धि भी होती है और आत्मबल भी बढ़ता है। बिगड़ता कुछ नहीं है, बल्कि बहिर्मुख होने में सब बिगाड़ हो रहा है। ज्ञानी जीव का वदन, प्रतिक्रमण आदि जो कि पुण्यके कारण हैं इन्हें यह ज्ञानी न तो करता है, न कराता है और न अनुमोदना करता है। देखो यह बात ज्ञानीके बहुत अन्तरकी है; इसलिए परमसमाधिके समक्ष व्यवहारमय पूजन, भजन, तप, व्रत, वदन, आत्मनिन्दन, दोष शुद्ध, गुरु विनय, सत्सग, यात्रा—ये सब करने योग्य नहीं हैं। जब विषय कषाय आदिक सताते हैं तब उनसे निवृत्त होनेके लिए ये सब करने योग्य हैं किन्तु इनमे ही अटक जायें और आगेका कुछ स्वरूप न मिल सके तो उमसे कल्याण नहीं होता।

अच्छा लो, कुछ पुण्य बन गया, पुण्यसे अगले भवमे वैभव मिल गया, तो वैभवमें अहकार हो गया, अहंकार होनेसे बुद्धि भ्रष्ट हो गई, बुद्धि भ्रष्ट होनेसे पापोंमें गिर गए और पाप होनेसे नरक आदिकके दुःख पाना होता है। भला क्या हुआ? यदि आत्मदर्शन नहीं हो सकता तो इन सब तृष्णाओंके फलमें अधिकसे अधिक हो जायेगा तो वैकुण्ठ हो जायेगा, पर वैकुण्ठमें कुछ समय तक अधिक चिरकाल तक रहा जा सकता है उसके बादमें फिर रागादिक परिणाम उखड़ते हैं, आयुका क्षय होता है, स्थिति समाप्त होती है, फिर ससारमें जन्म लेना पड़ता है। वह वैकुण्ठ क्या है? जिसे ग्रैवेयकके नामसे कहा है। ग्रैवेयक वैकुण्ठ इनका एक ही अर्थ है। लोकके नक्शेमे, पुरुषाकारमें कठस्थान पर ग्रैवेयक लिखा है, जहां बहुत सुख है। सबके एकसी ऋद्धि वैभव है और २१ सागरसे लेकर ३१ सागर तक सुख भोगते हैं। यह स्थिति पा ली जायेगी, पर आत्मदर्शनके बिना जीव को मुक्तिका मार्ग नहीं मिल सकेगा।

अब यहा उन्हींका विशेष स्वरूप बतला रहे हैं। मनुष्यकी शुद्धि, जीवकी शुद्धि प्रतिक्रमणसे होती है। प्रतिक्रमण कहते हैं रागादिक दोषोंके निराकरण करने को। धर्मपालनके समय चाहे गृहस्थ अवश्य हो, पर धर्मके क्षणोंमे उसे उतना ही उदार गम्भीर, शात धीरकी दृष्टि करना चाहिए जिस उदार धीर ज्ञानकी दृष्टि साधुजन करते हैं। साधुवोंमें और गृहस्थ ज्ञानियोंमें स्थिरताका अन्तर है। ज्ञान और सम्यक्त्वका अन्तर नहीं है। ऐसा नहीं है कि साधुवोंकी कर्म निर्जरा तो आत्मध्यानसे होती होगी और गृहस्थोंकी कर्मनिर्जरा, दान, पुण्य, व्रत, तप, समारोह, जलसा आदि इनसे होती होगी। जो कर्मनिर्जराका उपाय साधुवोंके लिए है वह ही कर्मनिर्जराका उपाय गृहस्थजनोंके लिए है। जिस निमित्तको पाकर आत्मामे कर्म आते हैं उसही के अभावका निमित्त पाकर झडेगे। वे बाहरी परिस्थिति नहीं देखा

करते हैं जिससे कि साधुओंके कर्म निर्जरा आत्माके सहजस्वरूप दर्शनसे होती है व गृहस्थके देहक्रियासे होती हैं। मेरा स्वरूप तो मात्र ज्ञान है। जो कि मुझमें तन्मय है, स्वतःसिद्ध है। ऐसा ज्ञानस्वभाव ही मेरा स्वरूप है। मुझमें रागादिक दोष नहीं हैं। ऐसे स्वरूपकी जानकारी होते ही सब दोष निकल जाते हैं। यही कहलाता है निश्चयप्रतिक्रमण। यह भावना है शुद्ध निर्विकल्प परमात्मतत्त्वकी।

भैया! धर्मपालनके क्षणमें किसी भी परकी ओर रंच भी उपयोग न जाना चाहिए। अगर किसी भी परकी ओर उपयोग गया तो वह धर्म-पालनसे विमुख हो गया। यदि प्रभुमें उपयोग गया तो वह शुभोपयोग बन गया और घरकी खबर आ गई तो वह अशुभोपयोग हो गया। जब शुद्ध निर्विकल्प परमात्मतत्त्वकी भावना होती है तो उस ज्ञानबलसे अतीत समस्त रागादिक जो भोगोंके भोगनेके रूपमें हों, सुननेके रूपमें हों, अनुभव करनेके रूपमें हों, निदानके रूपमें हों, भोगोंकी चाहके रूपमें हों, उन समस्त दोषोंका निराकरण हो जाता है केवल एक ज्ञानस्वरूपके आलम्बनसे। इस ही का नाम निश्चयप्रतिक्रमण है। यह हुआ प्रतिक्रमण याने लगे हुए दोषोंको दूर करना।

अब बतलाते हैं कि आगामी कालमें भी दोष नहीं हो सके, इसके लिए तैयार होनेका नाम है निश्चयप्रत्याख्यान। इसका भी उपाय वही आत्मा है। शुद्ध निर्विकल्प वीतराग ज्ञानानन्दस्वरूप स्वतःसिद्ध अपने आपकी सिद्धिके कारण जो मुझमें मेरी भावनाका मिलन हुआ उसके बलसे आगामी कालके भोगोंकी चाह छूट जाना इसका नाम है निश्चयप्रत्याख्यान। एक दर्पण सामने है और उसमें दरी, भींत आदिका प्रतिबिम्ब हो रहा है। मानो हरी चीज है तो उस दर्पणमें हरी चीज प्रतिबिम्बित हो रही है। उस हरे रूप परिणत हुए दर्पणमें ऐसा भेद कर सके कि जो हरा परिणमन है वह दर्पण की निजी चीज नहीं है। यह उपाधिके ससर्गसे होता है, और यह प्रतिबिम्ब होने पर भी इसके अन्तरमें एक स्वच्छता है वह है दर्पणका स्वरूप। यद्यपि वह स्वच्छता प्रकट नहीं हो रही है, किन्तु वहा हरा ही प्रतिबिम्ब है, मगर स्वच्छता अब भी न हो तो हरा प्रतिबिम्ब हो नहीं सकता। क्या कारण है कि दर्पणमें ही हरा प्रतिबिम्ब चल रहा है, और चौकी, चटाईमें हरा प्रति-बिम्ब नहीं चल रहा है। इसका यह कारण है कि चौकी, चटाई आदिक पदार्थोंमें स्वच्छता नहीं है, और दर्पणमें स्वच्छता है। स्वच्छता व्यक्त नहीं होती, पर स्वच्छताके ही कारण वह हरा प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकार ससारी आत्मामें शुद्ध ज्ञान स्वच्छता व्यक्त न होने पर जो रागादिक विभाव परि-

णमन चलते हैं उनका कारण आधारदृष्टिसे एक चैतन्यस्वभाव और ज्ञान-प्रतिभासकी स्वच्छता है। जो जैसे प्रतिबिम्बसे परिणत हुए दर्पणमें भी जानकार पुरुष दर्पणका स्वरूप स्वच्छता समझता है, इसी प्रकार रागादिक दोषोंसे परिणत हुई आत्मामें भी ज्ञानी पुरुष आत्माका स्वरूप ज्ञान, जानन ही समझता है।

उस चैतन्यस्वरूपका जिसने उपयोग द्वारा साक्षात किया है, उसको ही प्रभुताका ज्ञान होता है और इस भावनाके बलसे आगामी भोगोंकी आकांक्षारूप रागादिक भावोंका त्याग होता है— इसको ही कहते हैं निश्चयप्रत्याख्यान। ये सब ज्ञानी पुरुषके हुआ करते हैं।

तृतीय उपाय है निश्चय-आलोचना। व्यवहार-आलोचना कहते हैं अपने आपमें दोष हो जाने पर गुरुवोंसे निवेदन करनेको। यह मध्यम ज्ञानी पुरुषमें होता है। उत्कृष्ट ज्ञानी पुरुषोंके तो एक शुद्ध स्वरूप आलम्बन ही होता है। चूंकि उन्होंने निज शुद्ध आत्माकी प्राप्ति की है, अत वर्तमान कर्मोदयसे आए हुए शुभ अशुभ परिणामोंके निमित्त हर्ष विषाद परिणामोंको अपने शुद्ध आत्मद्रव्यसे पृथक् मानते है। बस दो दोषोंसे पृथक् निज ज्ञानस्वरूपको निहारना यही वास्तवमें आलोचना है, और गुरुवोंसे अपना दोष बताना यह है व्यहार-आलोचना। इस प्रकार निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, निश्चयआलोचनामें स्थित होकर व्यवहारप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना के अनुकूल वन्दना, निन्दा आदि शुभोपयोगको भी छोड़ता हुआ-ज्ञानी पुरुष अपने स्वभावमें लीन होता है, अन्य कोई नहीं हो सकता है। जिसने अपने आपके समस्त दोषोंको छोड़कर स्वभावको ग्रहण किया है, वही ज्ञानी पुरुष ससारके सकटोंसे दूर होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

वंदणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिं एहु ण जुत्तु।
एक्कुवि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥६५॥

एक ज्ञानमय शुद्ध पवित्र भावको छोड़कर ज्ञानियोंको ये व्यवहार वन्दन, निन्दन, प्रतिक्रमण करना युक्त नहीं हैं, अर्थात् यदि एक अकिंचन् सत्य ज्ञानस्वभावमें उपयोग स्थिर रहता है। तो हे ज्ञानी ! तू विकल्प न कर कि मुझे वन्दन, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि भी कुछ करना है। सर्वसिद्धि एक ज्ञानस्वभावमय सहजतत्त्वके दर्शनमें है। यह दर्शन हो रहा है तो वहा वन्दन, निन्दन आदिक विकल्पकी आवश्यकता नहीं है। यदि विषयकषाय सकल्प विकल्प निदान कल्लोल रहते हैं, तो ऐसे पुरुषोंको व्यवहार, वन्दन, निन्दन, प्रतिक्रमण एक मार्ग है, जिससे उन दुर्वासनावोंसे मुक्त होकर वे ऐसे पात्र बनें कि एक ज्ञानभावका उपयोग कर सकें, किन्तु जो ऐसे ज्ञानी हैं,

जिन्हें इस ज्ञानस्वभावका अनुभव हुआ है उनकी यह चर्चा है।

अपने इस जीवनमें यदि किसी क्षण चाहे वर्ष भर पहिले हो, चाहे ५-७ वर्ष पहिले हो, किसी भी क्षण हो या आजकल हो, संकल्पविकल्पसे रहित एकमात्र ज्ञानप्रकाशका ही ज्ञान रहा हो और उस कालमें जो आनन्द बरसा हो उसका स्वाद लिया हो तो उसकी स्मृति रख करके दोहेका अर्थ समझना चाहिए। यह शुद्ध भाव जिसका दर्शन संसारबन्धनको काट देता है, यह इन्द्रिय भोगोंकी आकांक्षावोंसे अत्यन्त परे है। चाहे वह पवित्र आत्मा हो, चाहे अपवित्र आत्मा हो, पर प्रयोजन यह है कि अपने उपयोगसे बाहर तत्त्वोंकी ओर उपयोग न देना, अन्तरोन्मुख रहना प्रभु जिनेन्द्रने ही तो यह बताया है कि सर्वसंकल्प विकल्पजालोंको त्यागकर केवल अपने निज आत्मतत्त्वको देखो। यदि ऐसा ही करनेका उद्यम होता है तो इसमें परमात्मा का अपमान नहीं है। परमात्माकी बताई हुई बातको निभाना यही उनकी सच्ची भक्ति है और सपूतपना है।

यह ज्ञानमय भाव पचेन्द्रियके भोगोंकी इच्छासे रहित हैं, और-और भी समस्त विभावोंसे रहित हैं। इस ज्ञानभावके अनुभव करने वाले पुरुषकी वृत्ति ऐसी हैं कि उसे जगत्के सब जीवोंमें कोई जीव, अपने निकटका कोई जीव अपनेसे बाहरका नजर नहीं आता है। इन अनन्त जीवोंमें से यह छटनी नहीं की जा सकती है कि यह मेरा है और यह पराया है– ऐसी छटनी एक बड़ा अधकार है। जगत्के जीव इस अंधकारमें ही बसे हुए हैं। जैसे अंधेरे घरमें अपने निकट रखी हुई चीज भी नजर नहीं आती। वह तो कदाचित् हाथ आ भी जाती है, किन्तु मिथ्यात्व अधकारमें बसे हुए प्राणीको अपने अत्यन्त निकट बसा हुआ यह परमात्मतत्त्व उपयोगमे नहीं आ सकता है। यह है अन्तस्तत्त्व। इसके लिए बड़ा बलिदान करनेकी, त्याग करनेकी आवश्यकता है, अकिंचन बननेकी यहा जरूरत है। जो सकिंचन बनता है, उसके न तो बाह्य अर्थ हाथ आते हैं और न सकिंचन ही बन पाता है, तब अपने आपके प्रभुकी कृपा दृष्टिसे भी हाथ धो बैठता है।

भैया! सकिचन बनना बहुत बड़ी गरीबी है। जैसे स्वप्नमें कोई निर्धन अमीर बन गया तो उसकी वह अमीरी मिथ्या है, वहां पासमें है कुछ नहीं, केवल नींदका स्वप्न है। उसकी स्थिति १०-१२ मिनटकी होती होगी। किन्तु यहा आखे खोले हुएमे और भीतरके ज्ञानकी नींदमें, मोहकी नींदमें यह कुछ १०, २०, ५० वर्ष स्वप्न आ रहा है। जैसे उस स्वप्नमें हाथ कुछ नहीं लगता, इसी तरह इस स्वप्नमें भी हाथ कुछ न लगेगा। जुवारियोंके अड्डे पर बैठे हुए प्राणीको जुवारियोंकी बातका असर सताया करता है,

इसी तरह मोहियोंके अड्डे पर बैठे हुए इन मोहियोंके संगका असर अपने अविवेकके कारण यह उत्पन्न किया करता है। अपना पोजीशन बनानेकी धुनमें इन मोही जुवारियोंके सगका असर है या क्या है ? इस निज शुद्ध आत्मतत्त्वमे बाह्य पोजीशन है कहा ? यह तो चारों गतियोंसे परे इन्द्रिय और शरीरसे पृथक् कषाय और नाना परभावोंसे विविक्त इस शुद्धआत्माकी पोजीशन बाहिरी किस बातसे है ? जिसके यह शरीर भी नहीं है। जो स्वय केवल ज्ञानके आकारमें, ज्ञानके स्वरूपमें, ज्ञानकी मुद्रामें ही निरन्तर रहना हो—ऐसे स्वभाववाले इस मुझ आत्माका पोजीशन क्या है ?

भैया ! मान लो, सारा जहान इसकी निन्दा पर उतारू हो, अथवा सारा जहान उसकी प्रशसा करने पर उतारू हो और यह आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानप्रभुके दर्शनका आनन्द ले रहा है, तो ऐसी स्थितिमें बिगाड़ इसका है कि सारे जहानका बिगाड़ है ? जो विकल्प करे बिगाड़ उसका ही है। सज्ञारहित आत्माके ज्ञानस्वभावका जिसने परिचय किया है और इस ज्ञान-स्वभावकी दृष्टिमें जो लग रहे हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुषोंको वदन, निन्द, प्रतिक्रमण युक्त नहीं है। जिस जगह बैठकर देखी जाने वाली चीज बनाई जा रही है उस जगह ही बैठकर देखा जाय तो वह चीज दिख सकती है। कोई छतपर खडे होकर देखनेके लिए तो कहे नीचे वाले से कि देखो यह कैसे सुन्दर आकारका हिरण है और वह मकानके ही आगनमें खडे खडे कहे कि हमें तो नहीं दिखता। अरे वह जहासे बैठकर देखनेको कह रहा है वहा जावो, बैठो और उसके सकेतके अनुसार देखो तो दिख जायेगा। यहा शुद्ध-ज्ञानमय भावके पदमें उपयोग बैठाकर दिखाया जा रहा है—देखो आत्मा-अत्यत्त निर्दोष, पवित्र, कारणसमयसार है यह प्रभु। स्वयं अपने आपके इसके दर्शनको छोड़कर प्रतिक्रमण आदिक करना भी युक्त नहीं है। इसे हम नीचे पदमें अपना उपयोग रमाकर देखना चाहें तो ज्ञानियोंका यह मत्र समझमें न आ सकेगा।

यहां इस लोकमें उपयोगको कहा जाना चाहिए ? इसके उत्तरमें ध्यान यह होता है कि दृष्टि जब तक शुद्धस्वरूपकी नहीं होती तब तक चूँकि सम्यक्त्व नहीं जगता और जब तक सम्यक्त्व नहीं जगता तब तक मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं होता है। इस कारण कोई इसको कर सके या न कर सके, कोई निजस्वभावमें स्थिर रह सके या न रह सके, कल्याणके अर्थ इसकी जानकारी कर लेना और किसी समय एक झलकको देख लेना, यह अत्यन्त आवश्यक है। इस रागरहित ज्ञानस्वरूपके ज्ञान बिना राग छोडनेका पुरुषार्थ न कर सकेगा। इस आत्मदृष्टिके बिना यदि राग छोडेगा तो झटपट राग

छोडेगा अर्थात् एक राग छोडा, दूसरे रागकी तरफ दौडा। उसका राग उपयोगसे समूल नष्ट नहीं हो सकता है। इस ज्ञानस्वरूपके दर्शनके बिना न वैराग्यका कदम आ सकता है और न चारित्रमें प्रवेश हो सकता है। ज्ञान-भावके मुकाबले ये व्यवहार, वंदन, निन्दन, प्रतिक्रमण युक्त नहीं हैं। यदि इस ज्ञानस्वभावमें उपयोगकी ऐसी स्थिरता हो जाये कि इसकी याद भी न रहे, इसकी दृष्टि भी न रहे, इसके ही एक ज्ञानस्वभावको छोड़कर अन्य किसी की भी दृष्टि न रहे—ऐसी पवित्र अनुभूतिके समयकी यह बात है कि ज्ञानियोंको ये तीनों ही करने युक्त नहीं हैं। यह ज्ञानमय भाव स्वयं ही परम आनन्द रसके स्वादसे भरा हुआ है।

भैया! आकुलित प्राणियों को अथवा किसी भी विकल्पमें रहते हुए प्राणियोंको अपने आपके आत्मस्वरूपकी खबर नहीं होती है। दुनियाकी खबर, अपनी खबर, किसीका विकल्प—ऐसी दृष्टि रखने वाले पुरुषके लिए यह नहीं कहा जा रहा है कि वदन, प्रतिक्रमण करना उसे युक्त नहीं है, किन्तु करे क्या, जिस किसीको खबर ही न रहे, केवल ज्ञानप्रकाशका अनुभव हो रहा हो, खुदका भी पता नहीं है, इस रूपमें कि मैं हू कहा, किस जगह बैठा हू, किस शरीरमें हूं, मैं समझता हूं, स्वाध्याय करता हू, किसी रूपमें हू, अपनी खबर नहीं होती—ऐसे परमहंसवत् स्वच्छ ज्ञानोपयोगी पुरुषको, ये तीनों ही युक्त नहीं हैं। क्यों करें? क्या करें, वह तो समतात्मक आनन्द अमृतके स्वादसे भरपूर है। बडा अच्छा लगता है मोही जीवको अपनेमें अत्यन्त अभाव वाले परपदार्थ। मोही जीव 'यह मेरा है, यह मेरा है' इस तरहकी अनुभूतिमें अपने को बड़ा बुद्धिमान् समझता है, पर यह है अत्यन्त विकट अज्ञानपन। इसमें रम जाना, परिवारजनों से अपनेको भरा पूरा मानना, यह है एक बड़ा धोखा।

भैया! उत्कृष्ट निजध्यानके लिए अपनी बड़ी बलि करना है इच्छा की, आकुलताकी, आत्मीयताके मान्यताकी। जब कहीं इस आत्मामें अनादि अनन्त नित्य प्रकाशमय इस चैतन्यस्वभावका दर्शन हो सकता है। जिसे स्वच्छ आनन्द आ गया उसे झूठे आनन्दकी क्यों रुचि होगी? वहा तो शुद्ध आनन्द व समताका भाव निर्विकल्प समाधिभाव उत्पन्न होता है। निर्विकल्प समाधि वहां ही उत्पन्न हो सकती है जहां केवल ज्ञान आदिक अनन्तगुणोंमें तन्मय परमात्मतत्त्व का श्रद्धान हो, ज्ञान हो और उसकी ओर झुकाव हो। ये सब बातें जो कही जा रही हैं इस रूप होने की स्थिति अभी शुद्ध भी नहीं है, क्योंकि जहां शक्ति और अशक्ति का ख्याल है वहां यह अभेदस्थिति नहीं आती है। ये सब बातें सीखी जा रही हैं। करनेके क्षण, करनेके क्षणमें

ही हैं। ऐसे परम ज्ञानमय आत्मतत्त्वके श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान या निर्विकल्प समाधि होती हैं। कदाचित् सुनने सुनानेकी स्थितिमें भी वह क्षण आ सकता है, निषेध नहीं है। कितनी ही क्रियाएँ ऐसी होती हैं कि संस्कार-वश होती रहती हैं और उनमें उपयोग नहीं रहता है और फिर इस परमात्म-तत्त्वकी झलक तो पाव सेकेण्डसे भी कम समयके क्षणकी बात है। इतने क्षणको सुननेकी क्रियामें, कहनेकी क्रियामें अन्तर आजाय तो उसके अन्दर व्यावहारिक अन्तर नहीं दिखता।

देखो भैया! यह नाथ तो जो है सोई है। यह न कषायसहित है, यों देखने से जाना जाता है और न कषायरहित है, यों देखनेसे जाना जाता है। इसकी जितनी भी विशेषताए बताई जायें उनसे यह देखनेमें नहीं आता, किन्तु जब यह देखा गया, ज्ञान ही अनुभवमें आ गया तब यह आ ही गया। ऐसा केवल ज्ञानसे ही गम्य, केवलज्ञानसे नहीं, केवलज्ञानसे भी है और सिर्फ ज्ञानसे गम्य ऐसे निजपरमात्मतत्त्वका जहा श्रद्धानज्ञान और आचरण है, अभेदरूपमें ऐसी निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न स्वाभाविक या समताके स्वाद से जो भर गया है ऐसा यह ज्ञानमय भाव है, उस भावको छोड़कर अन्य जो व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान और व्यवहार-आलोचना है उनके अनुकूल जो वदना, निन्दना और शुभोपयोग आदिके विकल्पजाल हैं वे सब ज्ञानीके युक्त नहीं होते हैं। यह कथन उनके प्रति शोभा देता है जो अशुभोपयोग से अलग हट गए हैं। शुभोपयोगमें जिनका समय व्यतीत होता है वे इस शुभोपयोग को छोड़कर केवलशुद्ध उस सहजज्ञानस्वरूपका उपयोग करें, उन्हें यह बात शोभा देती है और यह कथन भी वहीं घटित होता है जो अपने ज्ञानसामर्थ्यके अनुकूल उसही मार्गकी ओर अपनी निगाह बनाए हुए हैं।

यद्यपि आगमोक्त शुद्धविधानसे वदन निन्दन प्रतिक्रमण, आलोचना आदि किए जायें वे भी फलदायक हैं तथापि ये सब किस लिए करना चाहिए उस भावका लक्ष्य नहीं है तो ये वंदन प्रतिक्रमण आदिक एक कल्पित धुनि की पूर्ति करके समाप्त हो जाते हैं। जैसे किसी असमर्थ फटाके में आग देनेसे फुस होकर वह खत्म हो जाता है, अपना कार्य पूर्ण नहीं कर पाता है इसी एक ज्ञानमय भावकी झलक बिना और क्या रहना चाहिए—ऐसा निर्णय हुए बिना ये वंदन, प्रतिक्रमण, ध्यान, पूजन, तप, सयम आदि फुस होकर समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जितना कल्पनामें समझ रखा है उतने की इतिश्री करके रह जाते हैं। इस उत्कृष्ट तत्त्वका ज्ञान होना, लक्ष्य होना सबके लिए आवश्यक है। साधु हो अथवा गृहस्थ हो, लक्ष्य विशुद्ध हुए बिना मुक्तिके

मार्गमें कदम उठाया ही नहीं जा सकता है।

मुक्त कौन है ? यह आत्माराम स्वरसत स्वभाव समस्त परभाव, परपदार्थोंसे मुक्त है। यह सदा मुक्त आत्मा पर्यायत भी मुक्त हो जाय- ऐसा जिन्हें पता नहीं है, लक्ष्य नहीं है, कहां दृष्टि लगाए यह जिन्हें मालूम नहीं है वे यत्र तत्र भटकते ही तो रहेंगे। एक, दो, तीन वर्षका बालक भी जानता है कि मुझे कोई भी सताये, कोई भी पड़ौसका बच्चा सताये तो उसका इलाज यह है कि वह अपनी मांकी गोदमें बैठ जाय, ऐसा बच्चेको भी पूरा पता है। और किसी भी समय, किसी भी उपद्रवसे तग आ जाय तो वह मात्र यह कार्य करता है कि अपनी मांकी गोदमें बैठ जाता है। इसी प्रकार हम आप अनेक बहिर्मुखी उपद्रवोंसे सताये हुए हैं। आखिर किस जगह पहुचे कि ये सारे सकट बुझ जायें ? उस परम पदका यदि परिचय नहीं है, तब तो शरणकी भीख मागते हुए फुटवालकी तरह यत्र तत्र फिरता रहेगा, फिर भी स्थाई शरण न प्राप्त होगी। यहा स्थाई शरणकी बात कही जा रही है। ऐसे ज्ञानमय भावको छोडकर जो केवल ज्ञानघन है, जहां प्रतिभासके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है- ऐसे विज्ञानघन और विज्ञानघनके अविनाभावी सहज आनन्दरससे परिपूर्ण इस ज्ञानस्वभावको छोड़कर ज्ञानी पुरुषको अन्य प.ार्थोंमें लगाना युक्त नहीं है- ऐसा सोचना भी विकल्प है। यह आता है तो आने दो, फिर इससे भी निवृत्त होकर सिद्ध लक्ष्य बनाओ।

भैया ! जिसे अपने गंतव्यस्थानका पता है लेकिन अभी वह दूर है तो उस गन्तव्यस्थान की ओर दृष्टि करके जाते हुएमें पथमें कितने ही पदोंकी भेंट होती है, होने दो। वह एक विधि है गन्तव्यस्थानमें पहुचनेकी, पर उन विधियोंमें भटकने वाले मुसाफिर बुद्धिमान मुसाफिर नहीं कहलाते हैं। इसी प्रकार ये सब हमारी परिणतिया उस गन्तव्यस्थान पर जाते हुएमें आया करती हैं, आने दो, आना पडेगा, आए बिना पढ न सकेंगे, किन्तु इस ही मे भटक हो जाने पर आगे पहुच भी न सकेंगे। व्यवहारवन्दनमें भी आत्मस्वरूपका ध्यान होता है किन्तु उस समयके उपयोगमें परपदार्थ विषयभूत हो रहे हैं, इतना भी ज्ञानरसका स्वाद पाने वालेको सहन नहीं हो रहा है। आत्मनिन्दनमें आत्मभावका ही स्पर्श होनेको है, पर यह आत्म स्पर्शको इतना परिचित और उत्सुक है कि देरको सहन नहीं कर पाता। लगे हुए दोषोंका निराकरण करनेमें उसे एक अपूर्व बल मिलेगा, जिससे ज्ञानस्वभावकी वृत्ति बनेगी, पर जिसे तुरन्त रोगको दूरनेकी औषधि प्राप्त है वह अन्दरसे उस ही औषधिको पान करनेको उद्यत रहता है। व्यवहार-प्रतिक्रमण आदि औषधियोंको छोड़कर उसकी निज ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि

है, ऐसे ज्ञानतत्त्वसे परिचित ज्ञानी पुरुषको अन्य भावोंमें लगना युक्त नहीं है, यह इस दोहेमें बताया है।

वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु।
पर तसु संजमु अत्थि णवि ज मणसुद्धि ण तासु ॥ ६६ ॥

जिनका मन शुद्ध नहीं है वे पूजा करें, वन्दना करें, आत्मनिन्दा करें, प्रतिक्रमण करें, तप व्रत करें उनके संयम नहीं हो सकता है। मन वहा शुद्ध कहलाता है जहां अपने परमज्ञानका परिचय हो। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं और पाचवा मोह। ये ५ जहा नहीं हैं, वहा तो पूर्ण शुद्धि है और जहां बिलकुल मोह नहीं है और कषाय मन्द हैं वहा विशुद्धि रहती है। जिसके मनमें मिथ्यात्व भरा है, मोह पड़ा है, पर वस्तुवोंसे भिन्न अपनेको नहीं समझ सकता है ऐसे मनको शुद्ध कहते हैं। अशुद्ध मन वाला कुछ भी करे अन्तरमें फर्क न आयगा। मन शुद्ध कैसे होता है? जिसके मनमें अपध्यान भरा है उसका मन अशुद्ध होता है। अपध्यानका मतलब खोटा ध्यान। अपना स्वार्थ चाहे, दूसरोंका विनाश चाहे, अपना नाम चाहे— ये सारी बातें उपध्यानमें आती हैं। जिसका चित्त उपध्यानसे रंगीला है, वह वन्दन, निन्दन, प्रतिक्रमण आदि करे किन्तु उसके भाव संयम नहीं है।

अपध्यान विषय और कषायके आधीन होता है। विषय और कषायों मे प्रवृत्ति है उस ही का नाम खोटा ध्यान है। ये विषयकषाय और उपध्यान आत्माके शत्रु हैं। आत्मा तो नित्य आनन्दमय है, ज्ञानस्वरूप है। स्वय अपने आप जैसा स्वरूप रचा हुआ है वह अत्यन्त पवित्र स्वरूप है। उस शुद्ध आत्माके अनुभवसे अत्यन्त विपरीत यह अपध्यान है। इसमें नाना प्रकारके लाखों मनोरथ पड़े हुए हैं। कोई अपनी नामवरी चाहता, कोई बच्चे चाहता, कोई अनेक पदार्थोंका लाभ चाहता, इस प्रकार लाखों मनोरथ के विकल्पजालोंसे आर्तरौद्र ध्यान रचा गया है। इस अशुद्धध्यानसे जिसका चित्त रंगीला है उसके भाव संयम नहीं हो सकता है। पचपरमेष्ठी की वन्दना करना, आत्मनिन्दा करना, गुरुवोंसे अपने दोष निवेदन करना। दोषोंका प्रायश्चित होना, कुछ भी करे, पर जब मन शुद्ध नहीं है तो संयम कैसे हो सकता है? अभी यह पता पड जाय कि इसका मन बडा अशुद्ध है, ईर्ष्या रखता है, दूसरोंको तुच्छ गिनता है, इतना मालूम पड़ जाय तो वह सुहायेगा नहीं। चाहे सूरतका अच्छा हो, बढ़िया कपडे पहिने हो, लखपति का बेटा हो, कुछ भी हो, मगर जिसको पता है उसे सुहायेगा नहीं। जो न सुहाये ऐसी चीज है तो वह पाप है।

भैया! मनुष्य बुरा नहीं होता है, पर जो मनुष्य पापसे रंगा हुआ है

वह मनुष्य किसीको सुहाता नहीं है। जिसका मन अ
मे भी लोगोंकी दृष्टि भला नहीं है। फिर अध्यात्ममार्गमें वह अपने लिए भी भला नहीं है। जिन्हें दूसरोंसे घृणा रहती हैं, दूसरोंको तुच्छ गिनते हैं, धर्मकी धुनमे बड़ा शोध करते हैं, बच बचकर चलते हैं, जरासा हला छू जाय तो अपनेको अशुद्ध मानने लगते हैं– ऐसे लोगोंके बारेमे यदि यह मालूम हो जाता है कि ये स्वार्थसे भरे हुए हैं, इनका पापी चित्त है, यह विदित हो जाय तो वे किसीको सुहाते नहीं हैं। तो सबसे बड़ी अपवित्रता है मन अशुद्ध रहे। मनकी शुद्धता यह है कि जगत्के सभी जीवोंको सुखी देखना चाहिए, किसीको दुःखी न करना चाहिए। अपनी दुनियामे अपना नाम चाहनेकी इच्छा न करना यही मनकी शुद्धता है। आर्द्रध्यान, रौद्रध्यान ये तो महाभयकर हैं। आर्तध्यानमे दुःखी दुःखी मन रहता है। इष्टका वियोग हो जानेसे उसका सयोगकी ओर ही ध्यान रहता है तो यह मोहकी मलिनता हुई। अनिष्टका संयोग होने पर उसके खराब होनेका ध्यान है तो यह द्वेष की मलिनता हुई। शरीरमें पीड़ा हो गयी तो हाय बडा दर्द हो गया– ऐसा समझकर दुःखी रहा करे। यह शरीर जैसे अपवित्र पदार्थका मोह हुआ ना? हमारे वैभव हो, ऐसा परिवार हो ऐसी स्त्री हो, ऐसे पुत्र हों, ऐसा राज्य मिले तो वासनावोंकी यह मलिनता है।

आर्तध्यानसे हृदय मलिनता हो जाता है, और उससे ज्यादा रौद्रध्यानसे होता है। दूसरेकी हिंसा करते हुए आनन्द मानता हो, आनन्दकी अनुमोदना करता हो, हिंसाको प्रोत्साहन देता हो यह क्रूर आशय हुआ। क्रूर आशयको ही रौद्रध्यान कहते हैं। और उसको प्रोत्साहन देना यह महा अपवित्र बात है। झूठा लेख लिख देना, थोड़े स्वार्थपर झूठ बोल देना, यह सब अपवित्रता है। दूसरेकी चीज चुरा लेना, यह भी अपवित्रताकी बात है। इन सब बातोंको करते हुए जो आनन्द मानें उसको कितना अपवित्र बताया जाय? विषयोंकी लालसा बहुत रखे, विषयोंके साधन जुटानेमे बड़ा मौज माने, परस्त्री, वेश्या, नाना व्यसनोंमे चित्त लगाए– ये सब मलिनताएं जिनके मनमें बसती हैं उनके भावसयम नहीं होता है। बाह्यक्रियाए तो वास्तवमे जड़ क्रियाएं हैं। तन, मन, वचन इनकी चेष्टाए पुद्गलकी चेष्टाएं हैं। ये बाह्य क्रियाकाड उसके लिए बिलकुल व्यर्थ हैं जिसका हृदय पवित्र नहीं है। इस कारण धर्ममार्गमें अपनी प्रगति करनेके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि अपना चित्त शुद्ध करें।

चित्त शुद्ध होनेका मूल उपाय है कि 'निजको निज परको पर जान।' इतने ज्ञान बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता है। मेरी आत्मा मेरे स्वरूपमे

है और मुझसे पृथक् समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें हैं। ऐसा ध्यान हुए बिना, श्रद्धान हुए बिना अपने चित्तसे विषय वासनाएँ दूर नहीं हो सकतीं, मोह और कषाय परिणाम अलग नहीं हो सकता। इसलिए सर्व प्रथम मोह ममता न रहे तो चित्त शुद्ध हो सकता है। और जिसके मोह न रहे उसके अपध्यान नहीं रह सकता। किसीको इष्ट न समझे तो वियोग होने पर क्या दुःख माने। ज्ञानी पुरुष किसी जीवको अनिष्ट नहीं समझता तो उनको दूर करनेका, नष्ट करनेका क्यों भाव करे? ज्ञानीपुरुष अपने आपको सबसे न्यारा निर्णयमें रखता है तो उसे शरीरकी वेदना भी न होगी। होगी भी तो उदयकी चीज सामने आ जाये तो उसमें अधिक पीडित न होगा। जैसे जिसको शरीरमें ममता होती है तो शरीरमें साधारण पीड़ा या बुरी पीड़ा आ जाये तो उससे अपना विनाशसा नहीं अनुभव करने लगता है। ऐसा अनुभव ज्ञानी पुरुष नहीं किया करता। हालाकि शरीर और आत्माका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और इसी कारण शरीरमें कुछ विकार आने पर अकन्या आत्मामें कुछ वेदना हुआ करती है। ऊँचे ज्ञानी ध्यानी संतोंको किसी भी परिस्थितिमें वेदना नहीं होती है।

असमाधिस्थ सम्यग्दृष्टी ज्ञानी ध्यानी निर्मोहीको कदाचित् शरीरमें कहीं वेदना भी होने लगती है तो वह उसको महत्त्व नहीं देता है। जिसको स्वय वस्तुस्वरूपका निर्णय हो गया है वह ज्ञानी संत अपने लिए किसी भोग साधनकी चाह नहीं करता। रही धन वैभवकी चाह एव अच्छा भव मिलने की वाञ्छा नहीं करता, लोकप्रतिष्ठाकी उस ज्ञानीके भावना नही होती है। जिसने शरीरसे पृथक् ज्ञानानन्दमय निजतत्त्वका निश्चय किया है उसको फिर जगत्के संकट नहीं रहा करते हैं। उसका चित्त शुद्ध रहा करता है। जिसने सर्व परसे पृथक् चिदानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्वका भान किया है वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह जैसे परिणामोंमें नहीं लगता है। उसे ये सब विपत्तियाँ मालूम पड़ती हैं क्योंकि ये सब आकुलतावोंसे भरे हैं। सो जिसका चित्त विशुद्ध हो जाता है अर्थात् भेदविज्ञानके बलसे स्व-सम्वेदन ज्ञान हो जाता है ऐसे पुरुषके भावसंयम नहीं होता है। और जिसका चित्त शुद्ध नहीं है वह बाहरी क्रियाकांड करे तो क्या उसे भला हो सकता है? नहीं हो सकता है। बल्कि लोकमें हास्यका साधन बन जाता है।

कोई पुरुष या स्त्री क्रोध, मोह, अज्ञानसे परिपूर्ण हो, किसी को कुछ न गिने, सबको तुच्छ माने, अपने को सबसे बड़ा समझे ऐसा कोई हो और लोगोको जाहिर हो कि इसकी ऐसी प्रकृति है और फिर धर्मके नाम पर शोध, पूजन और-और क्रियाकांड करे तो लोग देखकर उसकी मजाक

करते हैं। उसकी क्यों मजाक होती है कि लोग यह जानते हैं कि धर्मका आधार तो चित्तकी निर्मलता है, वह तो यहां है नहीं और धर्मकी धुनिमें पागलपन छाया हुआ है। जिसके चित्तमें विशुद्धि नहीं है उसके यह संयम होता ही नहीं है। यह प्रकरण कुछ पूर्वसे चला आ रहा है जिसमें मोक्ष, मोक्षका फल और मोक्षका उपाय आदिक विषयोंका प्रतिपादन होता आया है।

इस महाधिकारमें इस समय यह बात चल रही है कि निश्चयसे पुण्य और पाप दोनों समान हैं। यदि पुण्य किसी रूपसे सुखका कारण हो सकता है, किसी रूपसे पुण्यकी परिस्थितिमें, धर्ममार्गमें यह जीव लग सकता है तो क्या पापके उदयकी परिस्थितिमें यह जीव धर्म मार्गमें नहीं लग सकता है? लग सकता है। बल्कि पुण्यकी परिस्थितिमें धर्ममार्गमें लगना कठिन है क्योंकि पुण्यसे वैभव मिला, वैभवसे मद होता है, मदसे बुद्धि भ्रष्ट होती है और बुद्धि भ्रष्ट होनेसे पाप होता है। धर्ममें लगना पुण्यकी ठाठ वालोंको अधिक कठिन है, और उसके मुकाबले पापका जिसके उदय है, लोगोंका सहयोग नहीं मिलता, दरिद्रता छाई है—ऐसी कठिन परिस्थितिमें उसका आत्मा सावधान रहता है। जब दुःखमें आत्मसावधानी रहती है तो वह अपना भी ध्यान कर सकता है, परका भी ध्यानकर सकता है। उसे धर्ममार्ग मिलना पुण्यवान्की अपेक्षा अधिक सरल है। तो इस दृष्टिसे पापका उदय भी भला हुआ। यदि पाप बुरा है तो पुण्य भी बुरा है। पापसे दुर्गति होती है तो पुण्यसे भी ऐसी चेष्टा हो जाती है कि जिससे दुर्गति भोगनी पड़ती है।

अभी कई श्लोकोंमें कई पद्धतियोंसे पुण्य और पापको समान बताया है। अब पुण्य पापकी समानताका वर्णन करनेके बाद शुद्धोपयोगका क्या स्वरूप है, क्या विवरण है? इसके प्रतिपादनकी मुख्यतासे व्याख्यान करेंगे। सो प्रथम शुभोपयोगका व्याख्यान आयेगा। शुद्धोपयोगमें क्या विशेषताएं हैं और उस शुद्धोपयोगका सम्बन्ध है वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानसे। रागद्वेष-रहित आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपका सम्वेदन करना यही है शुद्धोपयोगका मर्म। इसका भी वर्णन आ गया। परिग्रहके त्यागपूर्वक सभी बातें हो गई, परिग्रहका सम्बन्ध आत्मभावकी निर्मलता नहीं बढा सकता। फिर शुद्धोपयोग के प्रसंगमें अंतमें यह बताया जायेगा कि केवल ज्ञानादिक गुणोंकी अपेक्षासे सर्व जीव समान हैं। इस प्रकारके वर्णनमें शुद्धोपयोगका स्पष्टीकरण होगा। उनमें सर्वप्रथम यह बात बतलाते हैं कि शुद्धोपयोगमें संयम आदिक समस्त गुण विराज रहे हैं। शुद्धोपयोग जो एक शिवतत्त्व है वहां रागादिक

विकल्पोंकी निवृत्ति रहती है। उपयोग तो उपयोग ही है। उपयोगमें शुद्धता आनेका अर्थ यह है कि इस उपयोगके साथ परभाव लगे हुए हैं। रागादिक विकारोंके रागादिक विकार नहीं रहें, इसीके मायने शुद्धि है। तो रागादिक विकल्पोंकी जो निवृत्ति है ऐसे शुद्धोपयोगमें संयम आदिक समस्त गुण विराजित होते हैं। इसका प्रतिपादन इस दोहेमें किया जा रहा है।

सुद्धह संजमु सीलु तउ सुद्धह दंसणु णाणु।
सुद्धहं कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥६७॥

कहते हैं कि शुद्धोपयोगियोंके ही संयम, शील और तप होता है। जिनका उपयोग रागादिकसे रहित है उनके ही संयम होता है। संयमका अर्थ है पचेन्द्रिय और मनको रोकना। इन्द्रिय और मनको विषयोंमें न लगाना, ऐसे कन्ट्रोलका नाम है संयम। यह संयम शुद्धोपयोगीके ही होता है। शील अपने सरल स्वभावसे रहना, अपनी सरलतासे अपने ज्ञानमार्गमें लगना, इसका नाम है शील। यह शील शुद्धोपयोगी पुरुषके ही होता है। तप वह कहलाता है जहां इच्छाका निरोध किया जाता है। मुझे कुछ न चाहिए— ऐसा इच्छानिरोध नामक तप वास्तवमें शुद्धोपयोगी पुरुषके ही हो सकता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन शुद्धोपयोगी पुरुषके ही होता है। विषयवासनामें जो लिप्त हैं उन्हें आत्मदर्शन कहां रखा है? आत्मदर्शन उसे होता है जो सर्वजालोंसे छूटा होता है, वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञान भी उन्हें ही होता है जो सर्वजाल प्रपंचोंसे मुक्त हैं। शुद्धोपयोगी के ही कर्मोंका विनाश हुआ करता है। अशुद्धोपयोगमें तो कर्म आते हैं। अशुद्धोपयोग वह कहलाता है जहां परपदार्थ विषयभूत बना रखा है। शुभोपयोग भी अशुद्धोपयोग कहलाता है और अशुभोपयोग भी अशुद्धोपयोग कहलाता है। अशुद्धोपयोगियोंके कर्मोंका विनाश नहीं हो सकता है। तो ये समस्त तप, व्रत असली मायनेमें उसके ही होते हैं जिसके शुद्धोपयोग है।

दो चित्रकार थे—एक जर्मनीका और एक जापान का। दोनों ने राजा से कहा कि हम लोग बडे सुन्दर चित्र बनाना जानते हैं। आप जहां चाहो हम दोनोंसे चित्रकारी करवावो और फिर परीक्षा करो कि हम दोनोंमें कौन अच्छी चित्रकारी करता है? राजाने एक कमरेमें चित्रकारी करनेको कहा। बीचमें पर्दा डाल दिया। एक भींत पर जापानका चित्रकार चित्रकारी करने लगा और एक भींत पर जर्मनीका चित्रकार चित्रकारी करने लगा। जापान का चित्रकार कई तरहके रंग लाया और भींतमें रंगना शुरू किया। ६ माह तक रंगता रहा और जर्मनीके चित्रकारने उसकी चित्रकारी के सामने भींत को कौड़ीके चूनासे रगड़ने लगा। ६ माह पूरे हो गए। राजा ने कहा—अब

देखेंगे तुम लोगोंकी चित्रकारी। जापानके चित्रकारने कहा पर्दा हटाकर दोनों को देखकर बताना कि किसकी चित्रकारी अच्छी है? राजाने पर्दा हटाकर दोनोंको देखा। जापानके चित्रकारकी चित्रकारी रूखे रंगकी थी और जर्मनीके चित्रकारकी चित्रकारीमें चमक थी और जापानके चित्रकारकी चित्रकारीकी छाया उस पर पड रही थी। सो उसकी भींतकी चित्रकारी झलक रही थी। राजाको जर्मनीके चित्रकारकी चित्रकारी पसन्द आई और उसे खूब इनाम दिया।

जब चित्त स्वच्छ होता है तो उससे जो भी क्रिया बने, जो भी वृत्ति बने सब स्वपर हितकारी होती हैं, और जिसका चित्त स्वच्छ नहीं होता है वह तप, व्रत प्रतिक्रमण आदि कुछ भी करे सब रूखे लगते हैं, उसके कर्मों का क्षय नहीं होता है। इस कारण शुद्धोपयोगी पुरुषके ही संयम, तप, व्रत, शील, सम्यक्त्व, ज्ञान और कर्मक्षय बताया गया है। इस कारण यह निश्चय कीजिए कि शुद्धोपयोग ही जगत् प्रधान है। उस शुद्धोपयोगके लिए प्रयत्न करो। अपने आपमें बसे हुए शुद्धज्ञायकस्वरूपके अनुभवके लिये यत्न करो। यहां बतला रहे हैं कि जो शुद्ध मन वाला है, जिसके चित्तमें दूसरे जीवके विनाश करनेका भाव नहीं है और न अपने किसी स्वार्थ और विषयकी पूर्तिका परिणाम है, एक शुद्ध ज्ञानस्वभावका उपयोग है ऐसे जीवोंके ही संयम होता है।

संयमसे क्या बात होती है? इन्द्रिय और मनके विषयोंसे हटना। संयमका असली अर्थ है नियत हो जाना। पर आत्मामें वह ही पुरुष नियत हो सकता है जो इन्द्रिय और मनके विषयके वश न हो। विषयोंकी इच्छा जिसके न उठे, ६ कायक जीवोंकी हिंसासे हटा रहे, वह ही कोई पुरुष आत्मा में निश्चल हो सकता है। ऐसा संयम शुद्धोपयोगी जीवोंके होता है। संयम पापको दूर करना है। गृहस्थोंका संयम इस ढंगसे होता है कि वे अपने प्रत्येक कार्यमें प्राणियोंकी रक्षा किया करें। भोजन बनाना, घरके और काम करना, आरम्भ करना, उद्योगके कार्य करना, उनमें हिंसा न हो इस प्रकारकी प्रवृत्ति करना, सो गृहस्थोंका प्राणसंयम है, और अपनी शान शौकत न बढ़ाना, आरम्भके वाहनोंकी, सवारियोंकी भरमार न करना, ये सब इन्द्रिय संयम हैं।

साधुवोंमें संयम दो प्रकारसे होता है—एक उपेक्षासंयम और एक अपहृतसंयम। जीव जहां चल रहे हैं उस जगहसे हटकर दूसरी प्रासुक जमीन पर चलना, बैठना यह है उपेक्षासंयम और जीवोंको पिछीसे यत्न-पूर्वक एक ओर करके फिर वहां चलना, बैठना यह है अपहृतसंयम। अब

तुम ही मनमें सोच लो कि बढ़िया बात कौनसी है ? जहां जीवघात होता हो उस जगहको छोड़कर और अच्छी जगहमें चलना, बैठना चाहिए, और जीवोंको पिछीसे हटाकर फिर वहां चलना बैठना चाहिए। यह अन्तिम बात उससे कमजोर बात है। कर तो सकते हैं, नहीं तो पिछी क्यों रखें। हटाते तो हैं मगर यह दूसरे दर्जेकी बात है। प्रथम दर्जेकी बात तो यह है कि उनको छेड़े ही नहीं, उनसे हटकर अलग चलें, यह है उपेक्षासयम। अपहृत-संयममें ५ समितियोंका पालन होना है। उपेक्षासयम समतासंयमको कहते कहते हैं। शुभोपयोगरूप संयमको अपहृतसयम कहते हैं। उपेक्षासयम कहो, वीतराग सयम, शुद्धोपयोगरूप सयम ये सब सयम शुद्ध चैतन्यभावके उपयोगी पुरुषमें होते हैं।

अथवा सयम ५ प्रकारके हैं- सामयिक सयम, छेदोस्थापना सयम, परिहार विशुद्धि सयम, सूक्ष्म सम्पराय सयम और यथाख्यात सयम। यह सुननेमें कठिन लग रहा होगा, क्योंकि इन्हें कुछ मालूम ही नहीं है, अपने खेलमें लगे हैं, यों ये सब बातें तो कठिन लग रही हैं, क्योंकि इन्होंने तो यह समझा है कि जीनेका फल इसीमें है कि अच्छा रोज खाना बना लें, बच्चोंको पालकर बड़ा कर लें, बस इनका काम पूरा हो गया, अपनी आत्मा की इन्हें जरा खबर नहीं। ये बच्चे या अन्य कोई काम न देंगे, सब छोड़ कर चले जायेंगे। अगर इनके चित्तमें अपनी आत्माके हितकी बात होती तो कुछ अध्ययनमें चित्त देती। जितना जो कुछ पैसा पैदा होता है, वह सब खाने पीने, पालने पोषनेमें ही खर्च हो जाता है। जरा गिनकर तो बताओ कि अपने ज्ञानके पैदा करनेमें या बच्चोंको धर्मकी विद्या सिखानेमें तुम कितना खर्च करते हो ? करते हो तो बतलावो। कोई कोई घरमें एक नया पैसा भी नहीं खर्च किया जाता। खाने पीने और बच्चोंके पालने-पोसनेमें अपनी शान शौकतमें ही खर्च किया जाता है। ज्ञानके प्रसगमें तो एक नया पैसा भी नहीं खर्च किया जाता है। सबकी बात तो नहीं कर रहे हैं, किन्तु जो ऐसा जानते हैं कि यह नाहक खर्च किया जा रहा है, खानेमें लगे, बच्चों में लगे, लड़ाई झगड़ेमें लगे उसको सार्थक मानते हैं और अपने ज्ञानकी वृद्धि में लगे अथवा दूसरोंके पढ़ने पढ़ानेमें लगे, उसे मानते हैं कि व्यर्थमें गया, उनकी यह हालत है।

जब तक ज्ञानकी रुचि न जगे और अपना तन, मन, धन, वचन ज्ञानके लिए न लगे तब तक ज्ञानमार्गमें गति नहीं हो सकती है। समय भी दे, यत्न भी करें, खर्च भी करें और अपने ज्ञानके लिए भी तो कुछ खर्च होना चाहिए। सो ऐसा लक्ष्य नहीं बनाते। यदि लक्ष्य बनाया जाय, थोड़ी-

थोडी विद्या रोज सीखी जाय तो साल भरमें कुछ सीखी जा सकती है, पर ज्ञानार्जनकी ओर लक्ष्य ही नहीं है। २४ घंटे बस घर गृहस्थीके काम काजों में ही लगे रहते हैं। धर्मकी धुनि है सो इतना कर लेते हैं कि दर्शन कर आए, एक जाप दे लिया और मन्दिरमें थोड़ी बातें करके चले आए, पर असली बातको भूल गये। स्वाध्यायका भी नियम नहीं है। स्वाध्याय भी हो जाने पर उनसे कोई प्रश्न करो तो जो १० वर्षका बच्चा जवाब दे देगा, उतना भी जवाब देना नहीं बन पाता। तो यह सब रुचिकी कमीका फल है।

भैया! धनकी ओर इतना ध्यान नहीं देना चाहिए था, ज्ञानकी ओर उससे अधिक ध्यान देना चाहिए था। कारण क्या है कि धन बुद्धिमानीसे नहीं मिलता है। धन तो उदयके अनुसार मिलता है, न जाने कब कहासे धन आ जाता है। किसीको अन्दाज नहीं होता कि आज किस जगहसे क्या आय होगी? आय होनी होती है अचानक हो जाती है। तो ध्यानसे धनकी बढवारी नहीं होती है और ध्यानसे ज्ञानकी बढ़वारी होती है। सो ध्यानका उपयोग ज्ञानमें करना चाहिए था। रात दिन विकल्प और उद्देश्य धनके ही बढानेका कर रखा है, सो अपने जीवनमें क्रांति लाना चाहो तो कुछ ध्यान ज्ञानमें भी उपयोग करो। पढ़ो, पढावो, विद्वानोंको बुलावो, अपने यहा विद्वान् रखो, बच्चोंको पढावो। धर्मका कार्य सब समाज मिलकर कर ले तो गनीमत है, पर दृष्टि इस ओर होनी चाहिए। अपनी जिन्दगीकी बसर करनेके साधन ही जुटा लिये तो इनसे पूरा न पडेगा। आखिर सब कुछ छोड़ कर यहासे जाना है।

यह बात चल रही है संयमकी। संयम सुननेमें लग रहा होगा कठिन। अरे संयम! यही तो है कि जैसे तुम लोगोंका चित्त गृहस्थी और बच्चोंमें एकाग्र है, इस तरह एकाग्रचित्त प्रभुमें हो जाय, ज्ञानमें हो जाय, यही तो संयम है। जो ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मामें ऐसे संयमको करता है उसकी सिद्धि समृद्धिकी सबमें वृद्धि होती है। इस संयममें जीवोंकी कैसी-कैसी परिस्थितियां होती हैं? उन परिस्थितयोंको ५ भागोंमें बांट दिया है। सामयिक अर्थात् रागद्वेष न करना, समतापरिणाममें रहना, शत्रु हो, मित्र हो, उनको समान मानना। अब समान माननेकी तो बात जाने दो। कोई दो-तीन वर्ष एक आध घन्टेको ऐसा मौका मिलता होगा कि कोई आये और उसकी बातें सुनें, अपने चित्तमें ज्ञानकी रुचि हो तो सब बातें बनती हैं। अब पुरुष हैं, वे जब ज्ञानकी प्रगतिकी तरफ ध्यान नहीं देते तो स्त्री ही क्या दें? ज्ञानप्रगतिकी बात ही मनमें नहीं आती है।

भैया ! रागद्वेप न करना इसको ही तप कहते हैं। सबके जानन देखनहार बनो। तुम्हारा कुछ हो तो मानों कि हमारा है। कोईसी भी चीज बता दो कि ये तुम्हारी है। तुम्हारी चीज हो तो तुमसे कभी बिछुडनी न चाहिए। पर सब बिछुड़ जाता है। धन, पुत्र, घर कौनसी चीज ऐसी है जो तुम्हारे साथ सदा रह सकती है ? सब बिछुड़ जायेंगे। तो जो बिछुड जायेंगे वे कैसे तुम्हारे हो सकते हैं ? जो तुम्हारा नहीं है उसमें राग क्यों करो ? अपनी चीज न हो और राग करे तो उसका फल केवल क्लेश है। जैसे दूसरे घरकी तो चीज हो और उससे प्रीति करे, उसे हडपना चाहें, अपनी बनाना चाहे तो उसमें क्लेश हो सकता है। लाभ कुछ न निकलेगा। इसी तरह जगतकी जो-चीजें हैं वे तुम्हारी नहीं हैं और तुम उनमें राग करो तो उसके फलमें कर्म बधेगा, दुःख होगा, लाभ कुछ नहीं मिल सकता है। यह सब भीतरकी दृष्टिकी बात है। चीज है, दुकान है, धन पड़ा है, पर भीतरकी श्रद्धामें तो यह बात लावो कि जब मेरा शरीर तक भी नहीं हो सकता है तो घर, धन, वैभव कैसे हो जायेगा ? इतनी भी बात भीतरमें नहीं ला सकते हैं तो कैसे कल्याण होगा ?

किसी चीजमें राग द्वेप न करना--इसका नाम है सामायिकसयम। और समतापरिणामको करते हुए रागद्वेप आ जायें तो फिर अपना ज्ञान ऐसा बनाना कि वह रागद्वेष नहीं रहे, इसको कहते हैं छेदोपस्थापना। इस सयमको करते हुए किसी विशिष्ट साधु पुरुपको ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो जाती है कि चलता तो देखकर है पर कदाचित् किसी जीव पर अनजाने पैर भी पड जाये तो उस जीवको रच भी बाधा नहीं होती, ऐसी सिद्धि हो जानेका नाम है परिहारविशुद्धिसयम। और जब सयम, तप करते हैं तो सब कषाय दूर हो जाते हैं, केवल सूक्ष्म लोभ रह जाता है। तो ऐसी स्थिति को कहते हैं सूक्ष्मसाम्पराय। और जब कषाय बिल्कुल नहीं रहता है तो फिर जो आत्माका आत्मामें रमण रहता है उसका नाम है यथाख्यातसयम। यथाख्यातसयममें सयम पूरा हो जाता है। जब कषाय बिल्कुल मिट गया तो पूरा सयम हो गया या यह भी जान जावो कि जितना कषाय कम है उतना मेरा सयम है और जिसके कषाय बिल्कुल न रहे उसके पूरा सयम हो जाता है। इस तरह सयम ५ प्रकारका है। वह भी शुद्ध जीवके होता है, शुद्धोपयोगीके होता है।

इसी प्रकार शील भी शुद्धोपयोगी जीवके होता है। अपने-आपके द्वारा अपने आपमें परिणति करना यह तो है निश्चयशील और व्रतका रक्षण करना, इसका नाम है व्यवहारशील। रागादिक न आ सकें और पूर्ण

व्रत निभ जाये अर्थात् बाह्यपदार्थोंमें राग न हो, यही निश्चयशील है। यह शील भी शुद्धोपयोग वाले के होता है। अशुद्धोपयोगियोंके शील नहीं रह सकता है।

तप भी १२ प्रकारके हैं। इच्छाको रोककर शुद्ध आत्मामें लगना, अपने ज्ञानको अपने शुद्धआत्मामें लगाना, इसका नाम है तप। सो इस तपकी सिद्धि पानेके लिए १२ प्रकारके तप किए जाते हैं। अनशन करना, भूखसे कम खाना, रसोंका त्याग करना, एकात स्थानमें सोना, उठना, बैठना और धूपमें सामायिक करना आदि कायक्लेश करना—ये सब तप कहलाते हैं। यह तो है बाहरी तप और अतरग तप है अपने दोषोंका प्रायश्चित्त करना, विनयपूर्वक रहना, वैयावृत्त्य करना, स्वाध्याय करना, आत्माका ध्यान बनाना, परिग्रहका व कषायका त्याग करना—यह अतरंग तप है। इन तपोंको जितनी शक्तिसे बने सो करना। परपदार्थोंकी इच्छाको दूर करना, इसका नाम तप है। तो यह तप भी शुद्धोपयोगी जीवके होता है।

यहा यह बतला रहे हैं कि धर्म करना है तो पहिले अपना मन शुद्ध करो। मन शुद्ध न करोगे तो धर्म हो नहीं सकता है। वैसा ही मोह रात दिन बना रहता है। कभी यह नहीं सोचते हैं कि मेरा तो अकेला आत्मा ही है। यह घर द्वार मेरा कुछ नहीं है—ऐसा कभी विचार नहीं करते तो मन शुद्ध कैसे होगा? मन तो शुद्ध होता है ममताके त्यागने से और ममता थोडी देरको भी नहीं छोड़ सकते। ज्यादा पढ़े हो तो क्या, न पढ़े हो तो क्या, ज्ञान तो सबमें बराबर है। वह तो अक्षरोंकी विद्या है। जैसे कोई और क-ा जानता है, कोई अक्षरोंकी विद्या जानता है, पर वह तो एक कला है, ज्ञान सबमें बराबर है। 'कोई बाहरी चीज मेरी नहीं है' ऐसा ज्ञान करनेमें कौनसी अड़चन है? प्रत्यक्ष आखों दिखता है कि मृत्यु हो जाती है, शरीर यहीं पड़ा रहता है। अकेले आत्माको जाना पड़ता है। ऐसा ही तो हम सब देखते हैं। 'अपना कुछ नहीं है' यह बात मनमें आये बिना मन शुद्ध नहीं हो सकता है। अपना मन शुद्ध करे तब धर्मकी बात निभ सकती है।

भैया! शुद्धोपयोगी पुरुषके सम्यग्दर्शन होता है। छद्मस्थ अवस्थामें तो अपने शुद्ध आत्माकी रुचि जगे, इसका नाम सम्यग्दर्शन है और केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सम्यग्दर्शनका क्या रूप होता है कि उस ही सम्यक्त्व के फलमें विपरीत अभिप्राय न रहे। जो कुछ भी निर्दोष परिणमन है, श्रद्धागुणकी जो परिणति होती है, जो कि अवक्तव्य है वह दर्शन है। सम्यक्त्व तो एकस्वरूप ही है, समझनेके लिये प्रति पदमें भेदकथन है। क्षायिक सम्यक्त्व केवलदर्शन, ये सब स्वरूपभेदसे भेद किए गए हैं, पर आत्मा वही एक

है। जो कषायरहित हो जाता है, शुद्धोपयोगी होता है, उसके ही सम्यग्दर्शन है, उसके ही ज्ञान है। शुद्धोपयोगियोंके ही कर्मोंका क्षय होता है। अपने परमात्मस्वरूपकी उपलब्धि हो इसीमें ही कर्मक्षय है।

भैया! जब शुद्धोपयोगियोंके ही ये सब बातें हो सकती हैं तो शुद्धोपयोगी होना ही वास्तवमें प्रधानगुण है। इस कारण शुद्धोपयोग करना, शुद्धमन बनाना यही प्रधानतया उपादेय चीज है। जो शुद्ध होगा उसके ही मुनिपना बनता है। जो शुद्ध होगा उसके ही शुद्ध ज्ञान बनता है। जो शुद्ध होता है उसके ही निर्वाण होता है। नमस्कार करने योग्य शुद्ध ही होता है। पंचपरमेष्ठीमें अरहंत सिद्ध पूर्णशुद्ध हैं, इसीलिए उनको नमस्कार किया जाता है। आचार्य, उपाध्याय और साधु शुद्ध होनेके प्रयत्नमें लगे हैं, इस कारण उन्हें नमस्कार किया जाता है। किसी व्यक्तिसे कोई नमस्कारका सम्बन्ध नहीं है बल्कि गुणोंको नमस्कार है। जिनमें गुण प्रकट हो गए हैं वे ही नमस्कारके योग्य है। तो यों शुद्धोपयोगी ही नमस्कारके योग्य हैं, उनके ध्यानसे शुद्धि होती है।

आजके प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि निश्चयसे अपना शुद्ध आत्मा ही धर्म है। धर्मके नाम पर बहुत बखेडे चल रहे हैं दुनियामें। धर्म मान रहे उपासनामें, और उपासनाके योग्य देव हैं अनेक। किसीका कोई देव, किसीका कोई देव। देवोंकी मान्यता तक ही धर्म रहा, तभी झगड़ा हो गया। जब यह जान लिया जाय कि धर्म तो वास्तवमें आत्माका शुद्ध वीतराग परिणाम ही है और देवोंकी उपासना अपने शुद्ध परिणामोंके लिए की जाती है। जब उपासना अपने शुद्ध परिणामोंके लिए की जाती है तो भगवान् भी शुद्ध परिणाम वाला होगा। जो वीतराग हो, शुद्धपरिणाम वाला हो वही भगवान्, प्रभु, ईश्वर, देव हो सकता है, और उसकी उपासना मात्र अपना शुद्ध परिणाम करने के लिएकी जाती है। तब फिर कोई कलह नहीं रहती, क्योंकि ध्येय एक हो गया। उपासना करके भी, प्रभुभक्ति करके भी अपना शुद्ध परिणाम ही पाना है। जैसे कोई चार-पांच बार भी उपासना करे, नवाज पढ़े, भक्ति करे और हिंसा वगैरह न छोडे तो धर्म तो नहीं हुआ। और कोई पुरुष ऐसा है कि अपना परिणाम शुद्ध बनाए है और प्रभु भजनमें ज्यादा समय नहीं देता या व्यावहारिक प्रभु भजनमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती तो वह विशेष धर्मी है। जो अपना शुद्ध परिणाम बनाए है और प्रभु भजनका व्यवहार अधिक नहीं है, वह धर्मी है, बजाय उसके कि जो प्रभुभजनका तोबाना बहुत बनाए, कई बार बनाए, और परिणाम शुद्ध न रखे।

भैया ! कोई हिंसाकी प्रवृत्ति, झूठ, चोरी की प्रवृत्ति रखे तो उसे धर्मात्मा कहा जा सकता है क्या ? धर्म हो तो धर्मात्मा कहलाता है। धर्म है स्वभावका नाम। आत्माका जो स्वभाव है वही आत्माका धर्म है। आत्माका स्वभाव है मात्र जाननहार, देखनहार होना। क्रोध, मान, माया, लोभ करना आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि कषाय आत्माका स्वभाव होता तो यह सदा रहना चाहिए, क्योंकि स्वभाव वस्तुसे अलग नहीं होता है। जैसे ज्ञान आत्मासे अलग नहीं हो सकता, चाहे कोई अवस्था हो। ज्ञान तो रहेगा पर क्रोधकी ऐसी बात नहीं है। किसी के क्रोध होता है किसीके नहीं होता है, किन्तु ज्ञान क्रोध वाले के भी है और जिसके क्रोध नहीं है उसके भी है। यदि ज्ञान कुछ भी न हो तो क्रोध ही कैसे हो ? भींत, ईंट, पत्थर हैं इनमें तो भला क्रोध हो जाय। कितने ही लोग टांकीसे पत्थरको उखाडते हैं, अगर पत्थरमें क्रोध आने लगे तो पत्थर कारीगरकी तुरन्त मरम्मत करे। तो क्रोध आत्माका स्वभाव नहीं है। जो आत्माका स्वभाव है वही आत्माका धर्म है- इस बातको इस दोहेमें बतलाते हैं।

भाउ विसुद्धउ अप्पणउं धम्मु भणेविणु लेहु।
चउगइ दुक्खहं जो धरइ जीउ पडंतउ एहु ॥ ६८ ॥

शुद्ध परिणाम ही अपना साहजिक परिणाम है। उस परिणामको ही धर्म समझ करके ग्रहण करो। जो धर्म अर्थात् आत्माका शुद्ध परिणाम चारों गतियोंके दुःखोंसे इस संसारमें पडे हुए जीवोंको निकालकर आनन्दके सुखमें धारण कराता है। धर्म शब्दमें खुद अर्थ बसे हुए हैं। धर्मका अर्थ है- धरति इति धर्मः'। जो जीवको दुःखोंसे छुडाकर आत्मीय सुखमें धारण करे उसका नाम धर्म है। धर्मका अर्थ है- पदार्थ आत्मनि यं स्वभावं धत्ते स धर्मः'। पदार्थ अपने आपमें जिस स्वभावको धारण करते हैं उस स्वभाव को धर्म कहते हैं। अब आत्माका स्वभाव क्या है ? उसके उत्तरमें यह कहा जायगा कि जो आत्माको दुःखोंसे छुडाकर सुखमें पहुंचा दे और जो आत्मा में स्वभाव पाया जाय सो ही आत्माका धर्म है। धर्मके इन दोनों लक्षणोंसे आत्माको निहारो तो आत्मामें अधर्म क्या मिलेगा ? मोह और कषाय, ये विकल्प ही अधर्म हैं। ये जीवको शान्तिका अनुभव नहीं करने देते।

भैया ! मोह व्यर्थकी चीज है। किसीको मान लिया कि यह मेरा है तो क्या मेरा हो गया ? क्या मेरा रहेगा ? क्या मेरा था ? जिस किसी भी चीजको अपना मानते हो उसको ही सामने रखकर समाधान कर लो। घर मकान, वैभव इज्जत नाम ये मेरे हैं ? क्या मेरे थे ? क्या मेरे रहेंगे ? मैं

तो जगत्के सर्वपदार्थोंसे अत्यन्त न्यारा हूं। मेरा किसी पदार्थसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आज यहां हैं, मरकर किसी भवमें पहुंच गये तो मेरा क्या रहा? पहिले किसी भवमें थे, तो अब उस पूर्वभवका कौनसा पदार्थ मेरे साथ है? यही हाल इस भवका है, परन्तु जीवमें मोहका परिणाम ऐसा विकट लगा है कि यह ठीक रह नहीं पाता है, गुथा हुआ है। थोड़ी देर शास्त्रोंकी बात सुनी तो कुछ ख्याल आता है और मोहसे छूटनेके लिए मन करता है, पर जैसे तपने लोहे पर या तवे पर पानीकी बूंद गिर जाय तो कितनी देरको गीला रहता है, थोड़ी देरको। बादमें फिर सूख जाता है। इसी तरह मोह-वासना, कषाय संस्कारसे तपे हुए इस आत्मा पर ज्ञानका जल थोड़ा डाला जाता है तो कितनी देरको रहता है, जल्दी ही सूख जाता है। सो यह आपत्ति है, इस जीव पर कि ज्ञानमें तो चित्त नहीं रहता और मोहमें चित्त रहा करता है यही सबसे बड़ी आपत्ति है। यही अधर्म है।

भैया! प्रभुभक्ति करे तो इस ध्येयसे करे कि प्रभु! मुझे और कुछ न चाहिए, मेरे आत्माका परिणाम निर्दोष रहे बस यही चाहिए। सर्ववैभव, सर्वचारित्र, सर्वव्रत, तप इस शुद्ध आत्मामें ही गर्भित हैं और इस शुद्ध परिणामको मैं ही कर सकता हूं, क्योंकि मेरा परिणमन है। जिस उपादानका जो परिणमन होता है, वह उसी उपादानसे होता है। प्रभु तो आदर्श है, हम उसके ज्ञानानन्दस्वरूपको निहारकर, निर्दोष चैतन्यस्वरूपको देखकर निर्दोषताकी भावना करते हैं और निर्दोष होते हैं। इस आत्माका निर्दोष हो जाना यही आत्माका धर्म है। यह धर्म क्या करता है कि चतुर्गतिके दुःखों से निकालकर इस जीवको जो कि संसारमें गिर रहा है, उत्तम सुखमें पहुंचा देता है। धर्म शब्दका अर्थ है कि संसारमें गिरते हुए प्राणियोंका उद्धार करके, उठा करके नरेन्द्र, देवेन्द्र, महेन्द्रके योग्य ध्येयभूत पदमें धारण करा दे, उसका नाम है धर्म। तो निश्चयसे जीवका शुद्ध परिणमन धर्म है।

वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत उस धर्ममें नयविभागसे सब धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। धर्मके जितने लक्षण हैं और धर्ममें जितनी भी वस्तु स्वरूपको छूने वाली मुख्यताएं हैं वे सब इस व्युत्पत्ति वाले अर्थमें गर्भित हो जाती हैं। जैसे कोई कहता है कि अहिंसा धर्म है, सो अहिंसा भी जीव के शुद्ध भावोंके बिना नहीं हो सकती। इसलिए अर्थ यह निकला कि जीवका शुद्ध परिणाम ही धर्म है। कोई कहते हैं कि धर्म दो तरहके हैं– गृहस्थका धर्म और मुनियोंका धर्म। सो गृहस्थका धर्म हो अथवा मुनिका धर्म हो, शुद्ध परिणामके बिना धर्म नहीं होता। गृहस्थका शुद्ध परिणाम कुछ दर्जे तक ही हो पाता है, इसलिए गृहस्थधर्म कुछ दर्जे तक ही है। मुनिका शुद्ध परि-

णाम अधिक रूपमें हो सकता है तो मुनिका धर्म अधिक ऊची अवस्था तक है। और पूर्ण धर्म तो प्रभुमें ही है जिसमें शुद्ध चैतन्यका विकास है, जो सर्वविश्वका ज्ञाता, द्रष्टा है, अनन्त आनन्दमय है।

ईश्वर दो प्रकारका समझो। एक तो कार्यरूप ईश्वर और एक कारणरूप ईश्वर। तो जो निर्दोष है, रागद्वेषादिकसे रहित समस्त विश्वका ज्ञाता द्रष्टा है, अनन्त आनन्दमय है, कर्मोंसे दूर है वह तो है कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा कहलाता है चैतन्यस्वरूप। उसीका नाम ब्रह्म है। जिसके चैतन्यका आधार नहीं, वह सारे मायाजाल फैलाता है। ये नारकी, तिर्यञ्च, पशु, देव बनना यह चैतन्यस्वरूपका प्रसार नहीं है। ये तो चैतन्यस्वरूपके मूलके ऊपर उठी हुई तरगे हैं। सो कारणपरमात्मा कहलाता है चैतन्यभाव, पारिणामिकभाव, ब्रह्मस्वरूप। उससे तो सृष्टियां होती हैं, सो अन्तर एक इतना ही है कि कोई तो कहते हैं कि वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म जिसकी सृष्टियां होती हैं वह एक है और कहते हैं कि वह चैतन्यस्वरूप, विज्ञानस्वरूप जितना परिणमनरूप होता है उतने भिन्न-भिन्न नाना हैं, किन्तु नयविभाग से उनमे यह जाना जाता है कि वह चैतन्यस्वरूप ब्रह्म द्रव्यदृष्टिसे तो एक है और पर्यायदृष्टिसे अनेक है। तो चैतन्यस्वरूपकी जो परिणतियां होती हैं सो ऐसा नहीं है कि चैतन्यस्वरूप बिलकुल अलग बना रहता हो। इस कारणसे पर्यायदृष्टिसे ही अनेक है, द्रव्यदृष्टिसे एक है।

स्वरूपदृष्टिसे समस्त चेतनोंका चैतन्य एकस्वभावी है, तो जिसने माना है कि चेतनके विकासका नाम धर्म है, सो वहा भी यह अर्थ आया कि आत्माका शुद्ध परिणाम धर्म है। जितने जितने भी धर्मके लक्षण करे सबको अन्तमें इस ठिकाने पर ही आना होता है। आत्माका शुद्ध परिणाम धर्म है। कोई कहते हैं कि, क्षमा करना धर्म है, नम्र रहना धर्म है, सरल बनना धर्म है, निर्मोह होना धर्म है, वे सब भी तो इस ही धर्मको लक्षित करते हैं कि शुद्ध परिणाम ही धर्म है। क्षमा है सो आत्माका शुद्ध परिणाम है क्योंकि वहा क्रोध नहीं रहा, नम्र रहना, वह भी आत्माका शुद्ध परिणाम है क्योंकि वहा मान दोष नहीं रहा। सरल होना भी आत्माका शुद्ध परिणाम है क्योंकि वहां छल नहीं है, निर्लोभ रहना आत्माका स्वभाव है क्योंकि वहां तृष्णा नहीं रही। धर्मका कुछ भी लक्षण करो, अन्तमें यही निष्कर्ष निकलेगा कि आत्माका शुद्ध परिणाम ही धर्म है। सो जो धर्मका लक्षण कहा है वह सबमें घटित होता है।

कोई कहते हैं कि रागद्वेष और मोहरहित परिणामका नाम धर्म है। कौन कहेगा कि मोह करना धर्म है? ममता करना धर्म है क्या? छोटा

सा बच्चा भी ममता करनेको धर्म नहीं कह सकना। हां, कोई कह भी सकता है मोह करना धर्म है। अज्ञानी जीव ही कहते हैं कि अपने बच्चोंसे मोह करना धर्म है। ऐसा किसीको कहते सुना है? कोई कह भी देते हैं और दलील भी देते हैं कि अच्छा बच्चेसे मोह न करें, वह खराब हो जाय या भूखा रहे तो क्या ऐसा देखना धर्म है? गृहस्थीमें रहते हुए कर्तव्य है, पर धर्म नहीं है। कर्तव्य बात और होती है, धर्म बात और होती है। धर्म वह होता है जो सबके लिए हो। और कर्तव्य होता है भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप। योगीका कर्तव्य और है गृहस्थका कर्तव्य और है, और जैसी जो परिस्थितिमें हो उसका कर्तव्य और है पर धर्म एक ही होगा चाहे साधु हो, चाहे गृहस्थ हो। जो सबमें बताया जा सके वही धर्म है। हा, अन्तर यह आ जाना कि गृहस्थका धर्म थोड़ा होता है, साधुका धर्म ज्यादा होता है पर धर्मका रूप न्यारा-न्यारा नहीं होना है।

जो लोग कहते हैं कि वस्तुका स्वभाव धर्म है तो उनका भी यही मतलब निकला कि आत्माका शुद्ध परिणाम धर्म है। क्योंकि आत्माका स्वभाव है शुद्ध चैतन्यमात्र रहना। इस प्रकारका जो धर्म है वह चतुर्गतियों के दुःखोंसे गिरते हुए जीवको उत्तम सुखमें धारण कराता है। अब यहां इतनी बात सुनकर एक शिष्यने प्रश्न किया कि पहिले दोहोंमें तो यह बताया है कि शुद्धोपयोगसे संयम आदिक सभी गुण प्राप्त होते हैं और यहां यह बतलाते हो कि आत्माका शुद्ध परिणाम धर्म है, और सभी धर्म इसही शुद्ध परिणामके लक्षण वाले धर्ममें पाये जाते हैं, तब उसमें फर्क क्या रहा? तो उत्तर देते हैं कि शुद्धोपयोगीकी सज्ञा वहा पर पहिले वर्णनमें मुख्य है और यहा पर धर्मसज्ञा मुख्य है। बात एक है कि शुद्धोपयोग बनाए रहना धर्म है, या यों कहो कि अपना शुद्ध परिणाम बनाना धर्म है। बात दोनों जगह एक पड़ती है। इस कारण सर्वप्रकारसे शुद्ध परिणाम ही करना चाहिए। यह इसका तात्पर्य हुआ।

अब यह बतला रहे हैं कि मोक्षका मार्ग विशुद्ध भाव ही है। ससारके सकटोंसे छूटनेका उपाय क्या है, विशुद्ध परिणाम करना।

सिद्धिहिं केरो पथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु।
सो तसु भावइ मुणि चलइ सो किमु होइ विमुक्कु ॥६६॥

मुक्तिका मार्ग एक शुद्धभाव ही है। जो मुनि उस शुद्ध भावसे चलित हो वह मुक्त नहीं हो सकता है। तुम्हारे पुराणोंमें भी ऐसे चरित्र आए हैं कि खूब व्रत किया, खूब साधना किया। पर किसी प्रसगमें वह अपने धर्मसे चलित हो गया तो वह मुक्ति नहीं प्राप्त कर सका है। किन्हीं दोषोंकी वजह

से लोकमे भी वह निन्दाका पात्र होता है, उस जीवके गुणों पर फिर कोई दृष्टि नहीं देता है। रावण था, वह कितना विद्वान् था, ग्रन्थोमे लिखा है कि पडित था, प्रभुभक्तिमें भी बड़ा प्रधान था और जिसका ध्यान भी एकाग्र हो जाता था पर उस रावण ने जो एक गल्ती अपने सारे जीवनमें की कि सीता को हर लाया और सीताको हर लाने पर भी उसने यह नियम बहुत पहिले ले रखा था कि जो स्त्री न चाहेगी, उस पर बलात्कार न करूँगा। उसको भी रावणने पूर्ण निभाया। इतना गुणसम्पन्न होने पर भी रावणने केवल एक दोष किया, वह सारी दुनियाकी नजरोंसे गिर गया। रावणने सीताहरणके सिवाय और कोई दोष किया हो तो जो बता सकता हो बतावे। पूरी रामायण पढ लो, खूब ग्रन्थ पढ लो, सीताहरणके अलावा उसमें कोई दोष न पावोगे। वह ज्ञानी था, ध्यानी था, प्रभुका भक्त भी था। सारी बाते होकर भी एक सीताहरणका दोष लग गया। सीताहरण करके भी रावण शीलसे च्युत नहीं हुआ, फिर भी सीताहरणका सकल्प तो कुछ और बातको लिए हुए था। इतना दोष हुआ कि लोकमें आज तक भी वह निन्दाका पात्र है।

जो जीव अपने शुद्ध भावोंसे च्युत हो जाता है वह मुक्त नहीं हो पाता है। शुद्धभाव किसे कहते हैं, जहा न शुभ सकल्प विकल्प रहे, न अशुभ सकल्प विकल्प रहे—ऐसा जो जीवका क्षोभरहित परिणाम हो उसको शुद्ध भाव कहते हैं वह ही निश्चय रत्नत्रयात्मकस्वरूप मोक्षका मार्ग है। जो शुद्ध आत्मपरिणामसे च्युत होता है वह मोक्षको कैसे प्राप्त कर सकता है? अर्थात् किसी भी प्रकार मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है। तो मोक्षका मार्ग क्या हुआ? अपने शुद्ध आत्माका अनुभवरूप परिणाम ही मोक्षका मार्ग हुआ। मोक्ष मायने छूटना, किससे छूटना? ससारके संकटोंसे। संसारके सकट क्या हैं? रागद्वेष मोह, और कोई संकट नहीं है जीव पर। बाकी जितने सकट लगे हैं या समझ रहे हैं वे सब रागद्वेष मोह से होते हैं। कितनी तरहकी हैरानियां है जगत्मे? पशु हैं, घोडे है, बैल हैं, भैंसा हैं— इनकी दुर्गतिया देखो। मारे जा रहे हैं, बोझा बहुत लदा है, जीभ निकली है, घुटने टेक लिये तो फिर भी डडोसे पीटकर जबरदस्ती चलाया। यह बात होती है रागद्वेष मोह परिणामसे। उन जीवोंके रागद्वेष मोह मनमें बसा है, उसके फलमें यह हुआ कि ऐसी-ऐसी गतियोंमें जन्म लेना पड़ा। सारे सकट रागद्वेष मोह परिणामसे हैं। सो रागद्वेष मोहसे छूटने का ही नाम मोक्ष है और उस छूटनेका उपाय है अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव करना। सो इसही मोक्षमार्गको मोक्षके चाहने वाले पुरुष सदा करते रहते हैं। सिद्धिका पथ और दूसरा नहीं है। सकटके मार्ग

विषयकषायकी भावनाको छोड़ देनेके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इः कारण कोई परिस्थिति हो, घरमें हो तो वहां भी यह उद्देश्य बनाओ ि विषयकषायके परिणाम मेरेमें मत उत्पन्न हों।

यदि विषय-कषायके परिणाम होते हैं, अथवा विषय कषायों मे पुः प्रवृत्ति जा रही है तो उसका खेद मानो, धर्म तो न मानो। जैसे कहते कि गृहस्थोंका तो यह धर्म है कि खावो पियो, आनन्दसे रहो, पर धर्म एव ही होता है, वहां यह नहीं है कि गृहस्थोंका धर्म और तरहका है और मुनियं का धर्म और तरहका है। धर्ममें भेद नहीं है। धर्म सबका एक है। रागद्वेष रहित शुद्ध परिणाम होना धर्म है। सो यही गृहस्थकी परिस्थितिवालोंका है और यही धर्म साधुकी परिस्थिति वालोंका है। धर्म अनेक प्रकारके नहं होते। तो इन दो दोहोंमें शुद्ध भावोंको धर्म बनाते हैं और विशुद्ध भाव करना ही मोक्षका उपाय बताते हैं।

अब यह बात प्रकट करते हैं कि किसी भी देशमें जावो, कुछ भी काम करो तो भी चित्तकी शुद्धिके बिना मोक्ष नहीं होता है।

जहिं भावहि तहिं जाहि जिय ज भावइ करि त जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तह सुद्धि ण ज जि ॥७०॥

जहा चाहे वहा जावो और जो मनमें चाहे सो करो, पर बिना चित्त की शुद्धि हुए किसी भी प्रकार मोक्ष नहीं होता। चित्तकी शुद्धिका अर्थ है कि मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ—ये ६ विकार न हों। ६ विकारोंका ही तो यह जगजाल है। सो ६ विकार न हों यह कहलाई चित्तकी शुद्धि अथवा जीवकी शुद्धि। तो निष्कषायभावसे जब शुद्धि बढती है तो मोक्ष होता है। अशुद्ध चित्त किन-किन बातोंसे होता है? ख्यातिकी चाह मायने प्रसिद्धि होनेकी चाह। ख्यातिकी चाह और बात है, पूजाकी चाह और बात है। ख्यातिमें तो प्रसिद्धि है कि लोग मुझे जान जायें और पूजामें, सत्कार विनय आदिकी वाञ्छा है तो ख्यातिकी चाह भी बडी अपवित्रता है और पूजाकी चाह भी। किन्हीं लोगोंमें अपनेको बड़ा कहलवानेका अर्थ यह है कि उन लोगोंके दिलका घात किया, उनको तुच्छ बनाया, उन पर प्रहार किया, तभी तो अपनेको बड़ा साबित कर सकेंगे। सो मूलमें ही जहा सब जीवों पर अन्याय किया जा रहा हो तो उस ख्यालके भावसे कोई सिद्धि नहीं हो सकती है।

पूजामें भी यही बात है। लोग मुझे जानें। क्यों जानें? तुम उनके जीवत्व का परिचय नहीं कर सकते हो क्या? सब एक समान हैं कोई माने तो उसके खुदके हितकी भावना होती है सो अपनी चेष्टा वह अपनेमें करता

है, मानता फिर भी कोई किसीको नहीं है क्योंकि प्रत्येक प्राणीमात्र अपने प्रदेशोंमें अपनी चेष्टा करता है। जैसा कषाय परिणाम हुआ, अकषाय परिणाम हुआ उसके अनुसार अपनेमें अपनी परिणति किया करता है। राग किया तो खुदको रंगीला बनाया, दूसरेको रागी नहीं कर सकता। द्वेष किया तो अपने आपको विषैला बनाया, पर दूसरे पर द्वेष नहीं कर सकता है। इसी तरह सत्कार, पूजा, विनय सभी परिणाम यह जीव अपने आपकी योग्यतासे अपने आपमें करता है और अपनी चेष्टा करके अपनेमें समाप्त होता है। इसका कहीं बाहर गमन नहीं है। पूछता भी कोई किसी को नहीं है। पर यह विकल्प बना लेता है, कल्पनाएँ करके आकुलताएँ मचाता है।

लाभ — सम्पदाका लाभ वैभवका लाभ। यह लाभकी चाह भी अपवित्रता है। सम्पदा हो तो वैसा निपटेंगे, न हो तो वैसा निपटेंगे। यहां हानि कुछ नहीं है। ज्ञानी जीवका ऐसा परिणाम होता है कि मेरेमें किसी वस्तुकी अटक नहीं है। रही पर्यायकी व्यवस्थाकी बात। सो जो भी परिस्थिति होगी उस परिस्थितिमें निपट लिया जायगा, पर अटक किसीकी नहीं मानना। तब फिर लाभका परिणाम करना, अमुक चीज प्राप्त हो जाय, अमुक प्राप्त हो जाय, यह अपवित्रता है। और कहो प्राप्त होनेके बाद उसकी इच्छा न रहे, और जब इच्छा है तब कहो प्राप्त न हो, तब फिर अर्थक्रिया तो कहीं भी न हुई, प्रयोजन तो कहीं भी न सधा। जब इच्छा है तब प्राप्त न हुई और जब प्राप्त है तब तद्विषयक इच्छा न हुई। ज्ञानी जानता है इसलिए वह किसी भी प्रकारके विषयोंको, पदार्थोंको नहीं चाहता। ये सब खोटे ध्यान हैं, जिन ध्यानोंके कारण यह जीव मूर्छित पड़ा हुआ है।

देखे गए भोगोंकी आकांक्षा करना अपवित्रता है, बच्चे लोग दूसरे बच्चेके हाथमें खिलौना देखकर बस इच्छा बढ़ा लेते हैं। आप लोग भी दूसरे के आराम, आडम्बर, मकानोंको देख करके इच्छा बढ़ा लेते हैं, खुदकी ओर से जरूरत कुछ नहीं है। दूसरोंका आराम देखकर, आडम्बर देखकर इच्छा बढा लिया करते हैं। वास्तवमें जीवनके लिए आवश्यकता हो और फिर उसका निर्वाह किया जाय, इसकी सीमा बहुत थोड़ी है। पशु पक्षी कहां परिग्रह रखते हैं, वे भी तो जीव हैं। जहा मिला खाया, जहा चाहा चल दिया। उनको कोई परिग्रहकी बुद्धि नहीं रहती है। तो मान लो मनुष्य एक सभ्य प्राणी है, सो थोडा अपनी सभ्यता बगराता है, पर उसकी सीमा तृष्णामें परिच्छिन्न हो गई। पशुवोंको कुछ आवश्यकता नहीं है, वे भी तो प्राणी हैं, जीवन उनका भी रहता है। मनुष्यको जीवनके लिए यदि आवश्यक समझा

जाय तो विल्कुल थोडी चीजोंकी आवश्यकता है। जिस मनुष्यने बाजारका मीठा और नाना तरहकी चीजें न खायी हों, देहातमें रहकर रोटी और भाजी खाकर प्रसन्न रहा हो तो वह शहरके भोगियोंकी अपेक्षा अधिक प्रसन्न है। और जैसे ही वह देहाती शहरमें आ जाय, १०-५ दिन लोगोंके बीचमें रहे, अनेक रहन सहन देखे, बस उसके जानकी आफत आ गई। खुदके लिए क्या आवश्यक है? बल्कि अनावश्यक ज्यादा भोगा जाता है, अनावश्यक ज्यादा खाया जाता है। शरीरकी स्थिति ठीक रखनेके लिए प्राकृतिक और सात्विक भोजन चाहिए, जो कि देहातोंमें खूब उपलब्ध होते हैं। पर विशेष-विशेष ढगसे बनाकर खाय, लम्बे-लम्बे सेव या गोलगोल भुजिया बनाकर खायें, खानेके कैसे कैसे आकार बदलते हैं? ये अनावश्यक हैं। अनावश्यक चीजें जीवका अहित करती हैं, हितकी साधक नहीं होतीं। तो देखे गए भोगोंकी चाह करना दुर्ध्यान है।

अथवा दूसरोंसे सुन लेना, अमुक चीज यों देखना, अमुक चीज यों खाना, ऐसा सुननेसे जो इच्छा होती है वह भी दुर्ध्यान है अथवा पहिले भोग किए भोग हैं, उनकी स्मृति होकर चाह बढ़ाना यह भी खोटा ध्यान है। ऐसे खोटे ध्यानसे जो कि शुद्ध आत्मतत्त्वके अनुभवसे बिल्कुल विरुद्ध है उन के द्वारा जितने काल चित्त रजित होता है, मूर्छित होता है उतने काल हे जीव! किसी भी कालमें चले जावो, कुछ भी अनुष्ठान करलो, काज करलो तो भी मोक्ष नहीं होता है। इस दोहेमें यह बताया है कि यह जीव अपध्यान के द्वारा काम क्रोधादिक विकल्पोंके द्वारा शुद्ध भावनासे गिरे तो कर्मोंसे बन्धता है। इस कारण निरन्तर अपना चित्त शुद्ध रखना चाहिए।

स्वयभूरमण समुद्रमें महामत्स्य बड़ा मन्छ है। बहुत छोटे तदुलमच्छ भी रहा करते हैं। वह महामच्छ अपना मुंह बाये पडा रहता है और हजारों मछलिया उसके मुंह कानमें खेलती कूदती रहती हैं। एक हजार योजनका लम्बा मच्छ है याने चार हजार कोसका लम्बा याने ८० हजार मीलका लम्बा मत्स्य है। इसको अतिशयोक्तिमें न समझना। यहाकी बात नहीं कही जा रही है। स्वयम्भूरमण समुद्रकी बात है। जितने असख्यात द्वीप समुद्र का विस्तार है उससे भी एक योजन अधिक जिसका विस्तार है उतने बडे समुद्रकी बात कही जा रही है। कुछ प्रकृतिसे भी ऐसा होता है कि बहुत छोटीसी तलैया है तो उसमें बड़ी अवगाहनाकी मछली नहीं पैदा होती है। कहीं तीन चार हाथ लम्बा गड्ढा पानीसे भरा हो तो वहा दो तीन अगुलकी ही मछलिया पैदा होती हैं। बडा तालाब हो तो उसमें बड़ी मछली पैदा होती हैं। तो स्वयम्भूरमण समुद्र जो असख्यात द्वीप समुद्रकी दुनिया

से वड़ा है, उसमे रहने वाले महामत्स्यकी यह चर्चा है। उसके तो कंठकी पोल ही इतनी होती है कि वहा सैंकड़ो मछलिया खेलती कूदती रहती हैं। यह तडुलमत्स्य सोचना है। यदि इसकी जगह मैं होता तो एक भी न बचने देता। यद्यपि भोगका अनुभव नहीं हो रहा है तो भी दुर्ध्यानके कारण शुद्ध आत्माकी भावनासे च्युत होकर भावोंसे ही कर्मोसे बन्धता है। इस कारण चित्तकी शुद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है।

जो इस लोकके भोगोंका इच्छुक हुआ और परलोकके भोगोंका इच्छुक हुआ, वह कषायसे कृष्ण बन रहा है, काला बन रहा है। वह वर्तमान में नही है तो भी विषयोंकी चाह करता हुआ, वर्तमान विषयोंसे अत्यन्त आसक्त होता हुआ, अतिमोहित होनेसे भोगोको न भोगता हुआ भी चूंकि उसके अशुद्ध परिणाम है, इस कारण कर्मोसे बधता है। कहीं जावे, विदेहमे भी कदाचित् पहुच जावे तो भी चित्तकी शुद्धि बिना मोक्ष न हो जायेगी। वहीं सिद्ध भगवान् विराजे हैं और वहीं अनन्त निगोदिया जीव पडे हैं। निगोदिया अपने दु खसे वैसे ही दु खी हैं जैसे यहाके निगोदिया हैं। उस स्थान पर जानेके कारण कहीं ऐसा भेद नहीं है कि यहाके निगोदिया एक स्वासमें १८ वार मरते हैं तो वहा १० वार ही हो जाये, ऐसा भी नहीं है। पूरा दु ख है। तो किसी जगहमे पहुंच जाने से आनन्द नहीं होता है, किन्तु चित्तकी शुद्धि, उपयोगकी शुद्धिके कारण आनन्द होता है। चित्तकी शुद्धि एक सम्यक्त्व परिणामसे होती है।

सम्यक्त्वके परिणाममे यदि मनुष्यके आयु वधे तो देव-आयु ही वधती है—ऐसा नियम है। सम्यक्त्वके परिणाममे देवोंमे आयु वधे तो मनुष्य-आयु ही वधती है। सम्यक्त्वके परिणाममें नारकी आयु वाधे तो मनुष्य-आयु वधती है, और सम्यक्त्वके परिणाममें तिर्यंच, पशु, पक्षीमें आयु वधे तो देव-आयु वधती है। और साथ ही यह नियम है कि कर्मभूमिया जीव सम्यक्त्वमें मरण करें तो पुन कर्मभूमियाके जीव नहीं होते, यह नियम हैं। तो यहाके हम आप मनुष्य कर्मभूमिया हैं और विदेह क्षेत्रके मनुष्य भी कर्मभूमियां हैं। इस कारण कर्मभूमिज मनुष्यसे मरण करके कर्मभूमिमे नहीं पहुचा जाता है। इस कारण विदेहक्षेत्रमे कर्मभूमिया मनुष्य की सम्यक्त्वसहित मरणमें गति नहीं है। एक कर्मभूमिया मनुष्यकी ऐसी वात है। सो यथाशीघ्र ऐसा हो सकता है कि मिथ्यात्वमे मरण करके विदेह मे पहुचे और फिर ८ वर्ष लग जाते हैं सम्यक्त्वको उत्पन्न करने के लिए। आठ वर्षकी आयुके वाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। तिर्यञ्चोके तीन दिनमें सम्यक्त्व हो जाता है। मनुष्यको ८ वर्ष वाद सम्यक्त्व उत्पन्न होता

हैं। देवको, नारकी को उत्पन्न होनेके बाद अन्तर्मुहूर्तमें ही सम्यक्त्व हो सकता है।

मनुष्य जब पैदा होता है तो बहुत दिनोंमें खड़ा हो पाता है, सम्भल पाता है, बहुत दिनोंमें अक्ल आ पाती है। बहुत दिन तक बोलते ही नहीं बनता और पशु पक्षी पैदा होते ही बड़ी जल्दी समझ जाते हैं, गाय भैंसके बछड़े एक दिनमें ही चलने फिरने लगते हैं। सिंह, हिरण आदिके बच्चे उसी समय चलने फिरने लगते हैं। उनके ऐसी प्रकृति पड़ी हुई है कि तिर्यंच को तीन दिनमें ही सम्यक्त्व उत्पन्न करने की योग्यता हो जाती है और नारकियोंको और देवोंको तो अन्तर्मुहूर्तमें ही सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है और मनुष्योंको ८ वर्षमें सम्यक्त्व उत्पन्न करनेकी योग्यता आती है। सम्यक्त्व परिणाम होना यही चित्तकी निर्मलता है। मोह न रहे और कषाय न रहे, कदाचित् यह कषाय जगे तो भी उपयोगसे विलगाव रहे, हटाव बना रहे, यह सब चित्त शुद्धि कहलाती है।

अब इसी प्रकरणसे सम्बन्धित यह बात बतलाते हैं कि ये उपयोग तीन प्रकारके होते हैं—शुभोपयोग अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग।

सुहपरिणामें धम्मु पर असुहे होइ अहम्मु।
दोहिंवि एहिं विवज्जियउ सुद्ध ण बधइ कम्मु ॥७१॥

दान, पूजा आदिके शुभ परिणामोंसे धर्म होता है। धर्मके मायने यहा पुण्यरूप व्यवहार धर्म है। अशुभ परिणामसे, विषय-कषाय आदिकके भावोंसे अधर्म होता है अर्थात् पाप होता है। और इन दोनों शुभ और अशुभ परिणामोंसे रहित हुआ जो शुद्धोपयोग है वह कर्मोंको नहीं बाधता, सवर और निर्जरा करता है। कोई जीव दान पूजा आदिके शुभ परिणाम कर रहा हो तो ऐसा नहीं है कि उसके पुण्य ही बधता हो। पाप भी बधता है क्योंकि चार घातिया कर्म तो सदा बधते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष है, पूजामें, ध्यानमें लगा रहता है तो ज्ञानावरण बंध रुक जायेगा क्या? या दर्शनावरणका या मोहनीयका या अन्तरायका बध रुक जायेगा क्या? चार घातिया कर्मोंका बध चलता रहता है। ये सब पाप हैं। चार घातिया कर्म सब पापगर्भित हैं। पाप प्रकृतिया अनेक हैं, जिनमें ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावर्णकी ६, मोहनीयकी २८ और अन्तरायकी ५। ये सब पाप प्रकृतिया हैं।

घातिया कर्मके अतिरिक्त नामकर्ममें अनेक पापप्रकृतिया हैं। आयु-में १ पापप्रकृति है और गोत्रमें नीचगोत्र हैं, यों मिलाकर १०० प्रकृतिया होती हैं। तो शुभ परिणाम करते समय मुख्यतासे पुण्य का बध होता है

पर पापका वंध बराबर चलता रहता है। पुण्य और पापका वंध जहा बताया जाता है वहां घातिया कर्मोंसे मतलब नही है। घातिया कर्मोंका वंध १० वे गुणस्थानक तक बराबर चलता रहता है। ज्ञानावरणका भी वंध है, दर्शनावरण का भी वध है और मोहनीयका वध १० वे गुणस्थानसे नहीं चलता है। सूक्ष्म लोभ होता है पर वह कषायका नया वध नहीं करता। उदय तो है, पर नवीन वध नहीं करता और अतरायका वध चलता है। तो १० वे गुणस्थान तक घातिया कर्मोंका वंध है। शुक्लध्यानमे तो मुनि हैं, वहां पापका परिणाम नहीं रहता है। तो पुण्य पापका विधान जहा किया गया हो, वहा विभागके लिये घातिया कर्मको नहीं छूना है। नामकर्मोंसे आदिमें शुभपरिणामोंके द्वारा पुण्य प्रकृतिका वध होता है और अशुभ-परिणामों से पापका वध होता है। अशुभपरिणाम बराबर बना रहता है।

यह नियम नहीं है कि अशुभ परिणाममे पाप ही पाप वधे। शुभ-परिणामके कालमे पुण्य कर्म भी वधता है। कोई जीव निरतर असाताका वध नहीं करता है, कुछ साताका वध करता है असाताकी मुख्यतासे। पहिले दूसरे तीसरे गुणस्थानमे तो अशुभोपयोग वताया है, पर उन गुण स्थानोमें देख लो कि पुण्यप्रकृतिका भी कितना पुण्यवध होता है। सम्य-क्त्वका निरतर जिसके उदय चल रहा है ऐसे ध्यानी मुनिके जिसके मंद कषाय हैं उसकी बहुत ऊँची पुण्यप्रकृति बन जाती है तब वह नवग्रैवेयक तक जाता है।

पहिले, दूसरे, तीसरे गुणस्थानमें परमार्थसे अशुभोपयोग कहा है। व्यवहारकी अपेक्षा दानादिरत मिथ्यादृष्टीके शुभोपयोग कहा जाता है, पर वस्तुत वह शुभोपयोगी नहीं है। जिसका चित्त शुद्ध नहीं है, मिथ्यात्वका अभाव नहीं है उसके शुद्धि नहीं बन पाती है। बुरा परिणाम हुआ अशुभ-परिणाम, जिससे पापका वध मुख्य रूपसे होता है। यह नियम नहीं है कि अशुभपरिणाम हो तो पाप ही वधे, पुण्य रंच भी न वधे, पर मुख्यता ऐसी ही है कि अशुभ परिणामसे पाप वधता है और शुभपरिणामसे पुण्य वधता जो इन दोनो शुभ अशुभ परिणामोसे रहित है, शुद्ध है, मिथ्यात्व रागादिक रहित परिणाम वाला है वह कर्मोंका वंध नहीं करता है। जैसे काली, पीली उपाधिसे सहित स्फटिक पाषाण काले पीले आदिरूप परिणमता है, इसी प्रकार यह आत्मा शुभोपयोगसे शुभपरिणामरूप परिणमता है, और अशुभो-पयोगसे अशुभपरिणामरूप परिणमता है। सो मिथ्यात्व विषय कषाय आदिके आलम्बनसे यह जीव पापकर्मोंको वाधता है और अरहत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधुके गुणोंका स्मरण करना, पूजा करना, दान

आदिक शुभ परिणामोसे बडे-बडे विशिष्ट गुण वाले पुण्य कर्मोंको यह न चाह करके भी बाध लेता है। सम्यग्दृष्टि हो तो कहो तीर्थंकर प्रकृतिको भी बाध ले। जो संसारकी स्थितिका छेद करनेका कारण है। यह भी वास्तव में तीर्थंकर प्रकृतिका उदय संसारकी स्थितिका छेद नहीं करता, किन्तु वीतराग शुद्ध परिणाम ससारकी स्थितिका छेद करता है। लेकिन जो तीर्थंकर प्रकृति बाध चुका, उसका यह नियम होगा कि वह ससारका छेदकर मुक्त होगा। इस कारण तीर्थंकर प्रकृतिको समारकी स्थितिका छेद करने वाला कहा गया है।

शुद्ध परिणामके अवलम्बनसे अर्थात् शुद्धोपयोग केवलज्ञान आदिक अनन्त गुणरूप मोक्षको यह जीव प्राप्त करता है। इस प्रकार शुभ, अशुभ, शुद्ध—इन तीनों परिणामोंमें कौनसा उपयोग ग्रहण करने योग्य है? तो शुद्धोपयोग ही उपादेय है क्योंकि शुद्धोपयोगसे निराकुलता है। परमार्थसे विचारो तो रागकी वेदनामें आकुलता होती है तो वह उस जातिकी आकुलता है, जिस जातिके शुभ या अशुभ उपयोगमें परिणति करते हैं, पर शुद्धोपयोगमें किसी भी प्रकारकी रच आकुलता नहीं है। इस तरह तीनों उपयोगोंका वर्णन किया। इनमें शुद्धोपयोग तो मुख्यतासे उपादेय है और अशुभोपयोग सर्वथा हेय है। शुभोपयोग शुद्धोपयोगकी अपेक्षा हेय है—ऐसा जानो। अब स्वसम्वेदन ज्ञानकी मुख्यताका वर्णन चलेगा।

दाणिं लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण।
जम्मणमरणविवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥७२॥

दानसे तो पचेन्द्रियके भोग विशेष प्राप्त हो जाते हैं और तपसे इन्द्र पद मिल जाता है, पर मोक्षपद जो कि जन्ममरणसे रहित है वह ज्ञानसे ही मिल पाता है क्योंकि मोक्षका अर्थ ही है केवल अपने स्वरूपमात्र रहना। जो आत्माका स्वरूप है ज्ञान, सो केवल ज्ञानमात्र रह जानेको मोक्ष कहते हैं।

दान चार प्रकारके होते हैं—आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। मोक्षमार्गमें लगे हुए जीवोंको अनरात्मावोंको भक्तिपूर्वक आहार कराना सो आहारदान है। और औषधिदान है रोगीकी चिकित्सा कराना। शास्त्रदान है शास्त्र आदि विद्याए पढाना, व्यवस्था बताना यह सब ज्ञानदान है। और दु खी, उपद्रवसे ग्रस्त जीवोंका भय छुडाना और उनकी आवास वगैरह आवश्यक बातोंकी व्यवस्था कराना, जिससे किसी प्रकारकी शंका न रह सके, अपने ध्यान, ज्ञानमे लगे रहें इसे कहते हैं अभयदान। सो यदि सम्यक्त्वरहित है और दान करता है तो उस परिणामसे भोगोंकी प्राप्ति होती है। और सम्यक्त्वसहित दान चले तो परम्परा निर्वाण उसके होगा,

पर इन दानोंमें जो शुभ परिणाम होता है। उन सब परिणामोंका फल है नाना प्रकारके अभ्युदय, वैभव मिलना, पञ्चेन्द्रियके भोग साधन मिलना। सम्यक्त्वसहित तपके द्वारा यद्यपि निर्वाण प्राप्त होता है फिर भी उसमे सातिशय पुण्यका बंध होता है। सो देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि बड़े वैभव वालों के निर्वाण प्राप्त हुआ है। सो जो ज्ञान है वह आत्माके सम्वेदनका करने वाला है तो भी सविकल्प सम्यग्ज्ञान के द्वारा देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिको विशेष वैभव प्राप्त होता है, फिर वही ज्ञान स्वसम्वेदन ज्ञान जब निर्विकल्प हो जाता है तब उसके साक्षात् मोक्ष होता है।

यहा कई बातें बतलाई जा रही हैं। पहिली बात सम्यक्त्वरहित जीव चार प्रकारके दान करे तो उससे भोगोंकी प्राप्ति होती है। दूसरी बात सम्यक्त्वसहित होकर वे ही चारों दान किए जाएँ तो नाना अभ्युदय, वैभव भोग साधन प्राप्त होंगे। मगर उसके बाद परम्परासे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। तीसरी बात बतलायी गई है कि सम्यक्त्वसहित तपके द्वारा देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूति मिलकर निर्वाण प्राप्त होता है, उस विभूतिका त्याग करके निर्वाण होता है। मगर तपस्याका परिणाम एक सातिशय पुण्यबंधन की विधि होती है। प्राय जो भी जीव मोक्ष गए है वे वैभव पाकर फिर सबका त्याग करके मोक्ष गए हैं। सम्यक्त्वरहित जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान सविकल्प ही है। तो उस सविकल्पताके कारण उन्हें बड़ी आपत्ति प्राप्त होती है और वही ज्ञान जब निर्विकल्प होता है तो उसके साक्षात् मोक्ष होना है। यों दो बातें स्वसम्वेदन ज्ञानके सम्बन्धमें बताई गई हैं।

इतना कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट पूछते हैं कि हे भगवन्! यदि जान लिया जीव जुदा, पुद्गल जुदा तो ऐसे ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होता है और फिर जो सांख्य आदिक कहा करते हैं कि ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होता है। उनके यहा भी तो प्रकृति और पुरुषका विवेक होनेसे मोक्ष होता है तब उन्हें दूषण क्यों दिया जाता है? उत्तरमें आचार्यदेव कहते हैं कि यहा तो वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञानसे बनाया है, इस कारण वीतराग विशेषणके द्वारा चारित्र प्राप्त किया जाता है। सम्यग्विशेषणसे सम्यक्त्व भी प्राप्त किया जाता है अर्थात् उसमें तीनो ही बातें गर्भित हैं। वीतराग स्वसम्वेदनरूप ज्ञान कहो तो उसमें श्रद्धान् भी गर्भित है और वीतरागता होना यही तो वास्तविकता चारित्र है, सो चारित्र भी गर्भित है। सो जैन सिद्धान्तमें जहा यह कथन किया गया है कि ज्ञानसे मोक्ष होता है उसमे तीनों ही बातें गर्भित हैं। ज्ञान वही कहलाता है जो ज्ञानके अनुसार आशय में आए। वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानकी सिद्धि सम्यक्त्वके बिना नहीं होती है

और वीतराग स्वसम्वेदन होना यही तो परमार्थ चारित्र है। इस कारण इस ज्ञानीमें ये तीनों ही बातें सम्मिलित हो जाती हैं। पर उन सांख्य आदिकके मतमें वीतराग विशेषण नहीं है। सम्यक्‌विशेषण भी नहीं है, ज्ञानमात्र भी कहा गया हो कि ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होता है तो भी वहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र तीनों ग्रहण करना।

इस प्रकार इस दोहेमें यह बताया है कि दान की मुख्यतामें भोग हैं, तपकी मुख्यतामें इन्द्रदेव आदि पद प्राप्त होते हैं और ज्ञानकी मुख्यतामें मोक्षकी प्राप्ति होती है। इस ज्ञानविकासमें श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र तीनों ही गर्भित हो जाते हैं। अब इसही अर्थको अन्य पद्धतियोंसे बताते हैं।

देउ णिरंजणु इउँ भणइ णाणिं मुक्खु ण भंति।
णाणविहीणा जीवडा चिरु संसारु भमंति॥७३॥

जो निरंजन हो, अर्थात् जहां द्रव्यकर्म, भावकर्म रूप अंजन नहीं है, लेप नहीं है वही सर्वज्ञ वीतराग देव है। जो निरंजन है वही सर्वज्ञदेव है, वही वीतराग अराध्यदेव जानन भगवान् है। अब ऐसी बात बतलाते हैं कि वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदनरूप सम्यग्ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, इसमें किसी प्रकारकी रंच भ्रान्ति न करो, क्योंकि मोक्षका अर्थ ही यह है छुटकारा मिल जाना। छुटकारा मिल जानेका अर्थ य है कि अकेले रह जाना। जो दूसरा तत्त्व इसके साथ अंजनरूप था उससे अलग हो जाना इसीका नाम मोक्ष है। तो इसका स्वरूप है ज्ञानमात्र। तो ज्ञानमात्र रह जाना यही हुआ मोक्ष और ज्ञानमात्रका उपाय है केवल ज्ञानमात्र अर्थात् परवस्तुवोंसे भिन्न ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको जानना। यह बात यदि बन सके तो उसके मोक्ष दूर नहीं है। बाकी तो मायामय पुरुषोंको निरखकर जो एक नाम ख्याति पूजा की इच्छा अथवा अपने विषय श्रृङ्गार साधन जो कुछ किया जाता है वह सब साररहित है। तो छुटकारा होनेका नाम है मोक्ष और छुटकारे का अर्थ है खाली रह जाना।

केवल यह आत्मा है ज्ञानस्वरूप। और इस ज्ञानमात्र रह जाने रूप मोक्षका उपाय है ज्ञानमात्र भावनामें प्रगति करना। यों ज्ञानसे मोक्ष होता है, इसमें कोई संदेहकी बात नहीं है। जो जीव ज्ञानसे रहित हैं वे चिर-काल तक इस संसारमें भटकते रहते हैं। इस वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानके द्वारा ही जीवोंका मोक्ष होता है। बताया भी है कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्‌चारित्रसे मोक्ष है, पर वास्तविक मायनेमें ज्ञानपरिणमन जीवका होना है तो वहां सम्यक्त्व और चारित्र तो आ ही जाते हैं। सम्यक्त्व और चारित्र परिपूर्ण हुए बिना ज्ञानका पूर्णरूप बन नहीं पाता है। जिसका

वर्णन किया जाता है उसकी मुख्यता हुआ करती है। कभी ऐसा भी कह देवे कि चरित्र बिना मुक्ति नहीं होती, सो चरित्र होनेमे भी श्रद्धान ज्ञान गर्भित होता है। चरित्र है क्या? आत्माके स्वरूपमे स्थिर होना सो चारित्र है। आत्मा है ज्ञानभाव प्रतिभासमात्र।

भैया! यह जीव पिण्डरूपसे स्थिर न होगा, जैसे शीशीमे पारा रख दो तो पारा स्थिर हो जायेगा। इस तरहसे पिण्डरूप जीव नहीं है जो कि अपने स्वरूपमे स्थिर हो जाये। ज्ञानस्वरूप आत्मा है और ज्ञानरूप ही यह वर्तने लगे, ऐसी स्थिरताका नाम चारित्र है। सो यह बात हुई कि ज्ञाता बने रहना सम्यक्चारित्र है। ज्ञानकी शुद्ध वर्तना बनी रहे इसीका नाम सम्यक् चारित्र है। तो कहीं यह कहा जाये कि चारित्रसे मोक्ष होता है तो उसमें ज्ञान तो गर्भित है ही और श्रद्धान् भी गर्भित है। फिर भी जीवको करना क्या है? कुछ विधिरूप और उपायरूप बात मिले, ऐसी बातके लिए ज्ञान ही एक ऐसी चेतना है कि जिस उपायको बताकर यह मोक्षका मार्ग सुगमतया समझाया जा सकता है। कोई कहे कि क्या करना है मोक्षके गमनके लिए। तो सीधी सरल भाषामें जल्दी बतला सकने वाली बात है तो यह है कि यथार्थज्ञान करना और यथार्थज्ञान ही बनाए रहना।

ज्ञानका काम ज्ञान द्वारा होता है। उस ज्ञानीके इसही ज्ञानस्वरूपमे स्थिरता होती है और उस ज्ञानके फलमे मोक्ष होता है। एक मोक्षमार्गमे मूल जड़ तो होती है सम्यग्दर्शन। उसके बाद चाहे ज्ञानके माध्यमसे प्रगति बताते चले जाएँ और चाहे चारित्रके माध्यमसे प्रगति बताते चले जायें। चौथे गुणस्थान से लेकर परमात्म-अवस्था तक जो दर्जे हैं वे सुगमतया चारित्रके माध्यमसे बताए गए हैं। जैसे जैसे अतरग चारित्र प्रबल होता चला जाता है वैसे ही गुणस्थान बढते चले जाते हैं। पर वहा भी ज्ञानकी ही अपेक्षासे निरखे तो भी बताया जा सकता है। जहा ज्ञान कुछ स्थिर रह सके वही ऊँचा गुणस्थान है। जहा ज्ञानमे विकल्प भी न रहे ऐसे ज्ञानको और ऊचा गुणस्थान कहते हैं और उस ज्ञानकी स्थिरताका निर्विकल्पताका परिणमन हो जाये कि जहां कर्मोकी निर्जरा और अभाव भी हो रहा है उसे ९ वा गुणस्थान कहते हैं। इस ज्ञानके द्वारा कपायका क्षय करके जब अतमे मात्र सूक्ष्म लोभ रह जाता है उस सूक्ष्म लोभके नाश करनेके लिए जो ज्ञानमात्र यत्न चलता है उसे दशम् गुणस्थान कहते हैं। इस प्रकार ज्ञानकी विशेषतासे भी हम गुणस्थानोको निरख सकते हैं और चारित्रकी विशेषता से भी गुणस्थानोंको निरख सकते हैं। इसी कारण आगममे गुणस्थानके देखनेकी परिपाटी चारित्रगुणकी अपेक्षा है।

चतुर्थ गुणस्थानसे ऊपर गुणस्थानोंको निरखनेके लिए है। इस प्रकार भगवत शासनमें यह बताया गया है कि ज्ञानसे मोक्ष होता है और पूर्वोक्त वीतराग, निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञान जिसके नहीं है। उसे बहुत काल तक परिभ्रमण करना पडता है। यद्यपि वीतराग सुसम्वेदन ज्ञान में तीनों ही बातें आ जाती हैं किन्तु सम्यग्ज्ञानकी ही मुख्यतासे यह वर्णन किया गया है। और असाधारण स्वरूपकी दृष्टिसे देखें तो आत्माके ये समस्त अनन्त गुण अभेदको प्राप्त कर देने पडते हैं तब पदार्थका असाधारण लक्षण ज्ञानमें आता है, अर्थात् जीवके बारेमें यदि यह कहा जाये कि जीवका असाधारण स्वरूप क्या है, जो जीवके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें न मिले और उस एक स्वरूप को बताया जाये जिसमें गुण गर्भित हो जायें—ऐसा असाधारण गुण क्या है? तो मिलेगा चैतन्यगुण प्रतिभासमात्र।

जैसे कोई पूछे कि पुद्गलका असाधारणगुण क्या है? तो कहा जायेगा मूर्तिकता पुद्गलमें यदि जडता हो तो अन्यद्रव्योंमें पहुच है, पर पुद्गलको छोडकर अन्यद्रव्योंमें मूर्तिकता नहीं है। सबको गर्भित कर देने वाला एक स्वरूप पदार्थका असाधारण लक्षण कहा जाता है। तो इस प्रकार जब जीवका असाधारण लक्षण जाननेको चले तो जीवके नाना गुणोंमें किसी भी गुणको बतायें तो अधूरापन रहता है। वह समग्र जीव ज्ञात और अनुभूत नहीं हो सकता। जो एक चैतन्यमात्र ज्ञायकस्वरूप ज्ञानमात्र प्रतिभास मात्र जीवको बताया जाने पर सभी गुण इसमें गर्भित हो जाते हैं अथवा और और गुण तो इस चिन्मात्र असाधारण गुणकी सेवाके लिए हैं। आत्मामें सूक्ष्मता है। हो न हो, क्या मतलब? पर सोचो तो सही यह ज्ञानमात्र आत्मा यदि सूक्ष्म न हो अर्थात् स्थूल मूर्तिक पदार्थोंकी तरह पडा रहा करे तो वह ज्ञानका कार्य कर भी सकता है क्या? नहीं। ज्ञान तो इतना पतला है कि जितनी पतली दुनियांमें कोई चीज नहीं हो सकती है।

भैया! सबसे पतला लोग जल्दीमें पानी कहते हैं जो छन्नेमें से निकल जाये। पानी छन्नेके छेदोंमें से नहीं निकलता। वह छन्ना जब भीग जाता है, उसके छेद बन्द हो जाते हैं तब पानी निकलता है। देखा भी होगा कि सूखे छन्नेसे पानी नहीं निकलता। थोडा विलम्ब लगता है। पर जब छेद बद हो जाते है तभी पानी निकलता है। कोई बडा छन्ना हो उसकी बात नहीं कहते हैं। पानी बहुत पतला होता है। पानी छेदोंमे से नहीं निकलता है। छेदोंसे पानी निकलता होता तो उसे छना हुआ पानी न कहते। उन छेदोंसे यदि पानी निकलता तो उसे अनछना पानी कहते, क्योंकि छाननेका तो प्रयोजन है जीवरहित प्रासुक जलसे। मतलब पानी पतला

होता है, मगर पानीसे भी पतला शब्द है।-मामूल काठका पर्दा यदि लगा हो तो पानी नहीं निकल सकता, मगर शब्द निकल जाते हैं। तो पानीसे भी पतला शब्द है या हवा हो और देखो जो पतला होता है उस पतलेमें स्थूल समाता है। जैसे पानी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, उस पानीके बीचमें मोटी पृथ्वी समायी हुई है। हवा उससे अधिक पतली है तो हवाके बीच पानी और पृथ्वी दोनों समाये हुए हैं। और हवासे पतला आकाश है, सो इस आकाशमें थोडे से हिस्सेमें यह हवा समा गई है, बाकी सारा हिस्सा हवारहित है और इतने बडे आकाशसे पतला ज्ञान है, जिस ज्ञानमे यह सारा लोकाकाश व अलोकाकाश समा गया है। तो सबसे सूक्ष्म ज्ञान मिलेगा, किन्तु यह सूक्ष्मता खुद राज्य करनेके लिए नहीं आयी है। राज्य तो करेगा ज्ञान ही और उस ज्ञानकी सेवा करेंगे सूक्ष्म आदि गुण।

ज्ञानका स्वरूप बनाए रहना मोक्षप्राप्तिका उपाय है। सो ज्ञानकी मुख्यतासे ही इस जीवके मोक्षमार्गका वर्णन किया गया है। कोई मूर्तिक बन्धन हो तो आघात करके, हटा करके, मार पीट करके बधन तोड दिया जाता है, पर जहा केवल भाव-भावका बधन है ऐसे बंधनको तोड़नेका उपाय न शरीरकी क्रिया है, न मनकी क्रिया है, न वचनकी क्रिया है और बडे-बडे दान, तप, आदिककी क्रिया है। ये सब बधन नहीं तोड देते हैं। ये तो बधन तोडनेके परिणामको अवसर देकर मदद कर देते हैं। बधन तोड़ने का उपाय ज्ञान है, और उस ज्ञानको बनाए रहना यही व्रत, तप, सयम व्यवहार धर्म है। ये मोक्षके उपायके सहायक वातावरण बनाने वाले तत्त्व हैं। मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है।

ससारके क्लेशोसे छुटकारा सम्यग्ज्ञानसे है। इस सम्यग्ज्ञानका अर्थ है वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञान। इसका अभिप्राय यह है कि रागद्वेषकी तरग न उठाकर अपने आपके ही आत्मा का ज्ञान किया जाये उसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान। सो इस वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानमे तीनों बातें आ जाती हैं-- सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। पर इन तीनों (रत्नत्रयों) में सम्यग्ज्ञान की मुख्यता है। क्यो कि जीवका स्वरूप ज्ञान है, और ज्ञानको ज्ञानरूपसे पहिचान लेना, आत्मीयरूपसे जान लेना, सो सम्यग्दर्शन है और ज्ञान, ज्ञान ही बना रहे, ज्ञातापनकी स्थिरता हो जाये इसका नाम चारित्र है। सो इस रत्नत्रयमें सम्यग्ज्ञानकी ही मुख्यता है। सो उसे मुख्य करके इस दोहेमें यह बताया है कि ज्ञानसे ही मोक्ष होता है और ज्ञानरहित जो जीव हैं वे ससारमे घूमते है। अब इस ही अर्थको एक दृष्टात दे करके निश्चित करते हैं।

णाणविहीणहँ मोक्खपउ जीव म काऍ वि जोइ ।
बहुएँ सलिलविरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ॥७४॥

जो ज्ञानसे रहित पुरुष है उसका मोक्षरूपी पद क्या किसी ने देखा है ? मायने होता नहीं है । जैसे पानीको कितना ही विलोवो, घटो भी विलोवो तो क्या पानीके विलोनेसे हाथ चिकने हो सकते हैं ? कभी नहीं चिकने हो सकते हैं । इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के विना जीवको मोक्षका पद नहीं मिल सकता है । संकटोंसे छूटनेके लिए हम आप लोग बहुत यत्न करते हैं । प्रथम तो यत्न करके घर वसाया, मोह किया, धन वैभव जोडा, ये सब काम संकटोंसे मुक्ति पानेके लिए करते हैं, पर गृहस्थीमें ऐसा है कि जो जानते हैं कि इस परिग्रहके सचयसे संकट नहीं छूटते, फिर भी गृहस्थपदमें हैं, ऐसा निश्चय करना पडता है । और कुछ जीव ऐसे हैं जो घोर अधकार में हैं वे ठीक यही जानते हैं कि ऐसा आरामका साधन वना लेने से हमारे संकट छूट सकते हैं । खैर, इनमें से पहिले प्रकारके गृहस्थोंको कहते हैं ज्ञानी गृहस्थ ।

ज्ञानी गृहस्थ सकटोंसे छूटनेका उपाय धर्मको जानता है । इसलिए समय-समय पर धर्मसाधनामें विशेष समय देता है, भगवान्की भक्ति, स्वाध्याय, व्रत, तप, संयमका पालन बहुत प्रकारसे धर्मको किया करता है । धर्मके कामोंमें जितना ज्ञानका अश है उतना तो लाभ है । सो यह ज्ञानीके होता ही है, पर और गृहस्थ भी किया करते हैं । सो जब कभी ज्ञानकी झलक हो जाये सो तो लाभ है और वाकी तो केवल एक दिलका लगाना है । जिस तरहसे दिल खुश हो वैसा काम करते हैं । पर सकटोंसे छुटकारा जैसी महान् वात सम्यग्ज्ञानके विना नहीं हो सकती है, क्योंकि इस जीव पर और सकट हैं क्या ? परवस्तुवोंके वारेमें भ्रम होना, यही तो इस जीव पर सकट है । प्रत्येक वस्तु जुदा है । जहा मान्यतामें यह आया कि अमुक मेरा है वस सकट आ गया, क्योंकि जिस पदार्थको माना कि यह मेरा है, वह पदार्थ उसके भावके अनुकूल तो परिणमेगा नहीं । वह तो अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति करेगा । जैसा निमित्त पा जायेगा उस विभावरूप परिणम जायेगा । पर उसके सोचनेसे नहीं परिणमता । प्रत्येक पदार्थ स्वयकी परिणतिसे परिणमते रहते हैं । चाहते कुछ हैं और परिणमते ये परपदार्थ कुछ और तरहसे हैं । तो ऐसी स्थितिमें रज करना, सक्लेश करना प्राकृतिक वात है । सकट इतना ही है कि वाह्यपदार्थोंको मान लिया कि ये मेरे हैं । हैं कुछ नहीं, परस्पर अत्यन्ताभाव है पर यह मान लिया सो अब क्लेश भोगना पडना है ।

भैया ! सब अज्ञानका क्लेश है । सो अज्ञानका यह क्लेश ज्ञानसे ही

मिट सकता है। जहा ज्ञान हुआ, 'ओह यह मैं निरंजन ज्ञानस्वरूप हू, सबसे न्यारा आत्मा हू।' स्वरूपमें घुसकर जहा ऐसा बोध होता है वहा सारे सकट टल जाते हैं। रहे अब क्या सकट इस जीव पर। अपनेमें ज्ञान ऐसा हो कि जिसमे अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका प्रकाश हो। जिसमे माया, मिथ्यात्व, निदान कोई शल्य नहीं, कोई विकल्प नहीं, ऐसे सम्यग्ज्ञानसे ही जीवको मोक्ष होता है। यहा मोक्षका अर्थ है संकटोंसे छुटकारा प्राप्त करना। यद्यपि आजके कालमें पूर्णमोक्ष नहीं है, मगर जितना संकटोंसे छुटकारा हो उतना मोक्ष ही है। वह मोक्ष न सही पर छुटकारा तो है। ज्ञान सही बना लो, लो अभी सकटोंसे छुटकारा हो जायेगा।

जिसमें सम्यकज्ञान नहीं है उसका चित्त ख्याति, पूजा, लाभ आदिक दुष्टभावोंमें परिणमता रहता है। अपनी नामवरीका भाव बहुत दुष्टभाव है क्योंकि ज्ञानस्वरूप इस प्रभुपर यह परिणाम बड़ा प्रहार कर रहा है। मुक्ति मे डटकर बाधा देने वाली यह नामवरीकी चाह करने का परिणाम है। किनमें नामवरी यह चाहता है? इन जीवोंमें जो स्वय दु खी हैं, मायारूप हैं, ससारमें घूमने वाले हैं? इन जीवोंमें ख्याति, पूजाका परिणाम बना हुआ है, इसका कारण यह है कि अपने आत्माका सही स्वरूप नहीं जानते, बाह्य पदार्थोंसे ही अपना हित मानते और बाह्यपदार्थोंमे ही अपनी नामवरी चाहते हैं, तो यह तो अपराध है ही, मगर एक बड़ा अपराध यह है कि माया साथमे लगी हुई है, मेरे इस दुष्ट परिणामको कोई नहीं जानता है— ऐसा वे मनमें निश्चय रखते हैं और बात बड़ी करते हैं जिसमे यह आशय पुष्ट हो कि लोगोंमें मेरी प्रसिद्धि बने। ऐसे मलिन चित्त वाले जीवका मोक्ष तो क्या होगा, बल्कि बहुत बडे सकटोंसे घिरा रहेगा।

भैया! अपने आपके हृदयमें विकल्पोंकी चक्की चलाते रहना यह क्या कम संकट है? निरतर विकल्प बना रहता है, व्याकुल चित्त रहता है। बहिरगमें बगुला जैसा भेष इस दुनियाका दिखना है, पर उन सबका प्रयोजन इसकी अपनी नामवरी है। अभी यहीं देखलो—छोटेसे लेकर बडे पुरुषों तक प्राय उनकी क्रियावोंमे यह आशय बना रहता है कि लोगों द्वारा प्रशसाकी बात बने। धर्मकाज करते है तो उसके साथ भी यही विष बनाए हुए हैं या समाजदेशका कार्य करते हैं तो उसके साथ भी यही बात बनाए हुए है। तो ऐसे चित्तकी मलिनता रखने वाले जीवके सकट नहीं छूटते हैं और ज्यो ही सर्वबाह्यपदार्थोंसे न्यारा अपने इस शुद्ध चिदानन्दस्वरूप पर दृष्टि गई कि यह मैं तो मात्र ज्ञानप्रकाश हू, बस इस दृष्टिके होते ही उसके सब सकट मिट जाते हैं। उन सकटोका सस्कार मिटे तो रचमात्र भी सकट

नहीं आ सकते हैं। ऐसा बननेके लिए केवल ज्ञानस्वरूप बन जाना, ज्ञानी हो जाना और सब प्रकारकी मलिनतावोंसे सदाके लिए छूट जाना आवश्यक है। इस ही दशाको मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष अरहत और सिद्धका है। पूर्ण मोक्ष तो सिद्ध भगवान्का है और मोक्ष ही अरहत भगवान्का समझो। केवल शरीर साथ है और कुछ कर्म भी साथ हैं। पर शरीर तो परमौदारिक है, शरीर बाधावोंसे रहित है और जो कर्म अघातिया शेष रह गए हैं उनमें किसी प्रकारका ऐसा बल नहीं है कि इन जीवोंको भ्रममें डाल सकें या किन्हीं बाह्यपदार्थोंमें इसको रमा सकें। निःसार हैं वे कर्म, तो अरहत का भी मोक्ष है। उसे कहते हैं जीवनमोक्ष। और सिद्ध भगवान्का मोक्ष है पूर्णमोक्ष, सर्वकर्म विप्रमोक्षरूप मोक्ष। ऐसा यह मोक्षपद सम्यग्ज्ञानके बिना कभी सम्भव नहीं है। किसी ने देखा हो अर्थात् दृष्टिमें आया हो तो बतलावो। सम्यग्ज्ञान बिना भी मोक्ष हो जायेगा क्या ? जैसे पानी कितना ही बिलोया जाये, पर पानीके मथनेसे क्या कभी किसीके हाथ चिकने हुए ? घी का निकलना तो दूर रहा, पर हाथ भी चिकना नहीं हो सकता है। तो जैसे बहुत-बहुत भी पानीको मथा जाये तो भी हाथ चिकना नहीं होता, इसी प्रकार वीतराग शुद्धआत्माके अनुभव बिना, सम्यग्ज्ञान बिना बहुत-बहुत भी तप किया जाये तो भी मोक्ष नहीं होता है।

भैया ! बहुत तेज गर्मी पड़ रही है और पर्वतोंके शिखर पर तपस्या की जा रही है। तप अच्छी चीज है। सम्यग्ज्ञानीको मोक्षमार्गमें तपसे सहायता मिलती है। और यदि मिथ्याज्ञानी है, उसके ज्ञानमें यह आशय है कि दुनिया जाने कि यह बड़ा घोर तपस्वी है तो कहो वह तप दुर्गति करा दे। जैसे आजकलके शीतकालका तप हो, अदाज करलो कि अभी जो १०-५ दिनसे कठिन पाला पड़ रहा है, तेज हवा बह रही है, खड़ा नहीं हुआ जाता है, ऐसी सर्दीके कालमें कोई नदीके तटपर या मैदानमें मुनिराज ध्य न लगाये बैठे हों रात्रिको या दिनको, तो यह कितना कठिन तप है। सम्यग्ज्ञानका तप तो मोक्षके मार्गमें सहायक होता है, पर किसीका यह आशय हो कि लोग समझें कि यह बहुत ऊँचा तप करते हैं, धर्मात्मा हैं, तो इस मलिन आशयके कारण वे दुर्गतिके पात्र बने हैं। सो समस्त व्यवहार धर्मोंमें शुद्ध आशयकी परम आवश्यकता है यदि वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानरूप शुद्ध आशय नहीं है। तो यह जीव बहुत प्रकारके तप सयम करता हुआ भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता है।

इस जीवका छुटकारा इसके हाथकी बात है, स्वाधीन बात है। कष्ट

की बात नहीं है। केवल एकदृष्टि बदल देना भर है। जहा दृष्टि अभी लगायी जा रही है वहासे पीठ फेर लेना है और जहासे पीठ फेरे हुए हैं वहां दृष्टि लगाना हैं। कितना सरल काम है यह। केवल भीतरमें एक ज्ञान कर लेनेके ही द्वारा साध्य है। इतना स्वाधीन सम्यग्ज्ञान रूप कार्य यदि नहीं बन सकता है तो कितना ही विचित्र तप, संयम धारण करले जीव, तब भी उसका मोक्ष नहीं होता है। इस कारण विषय कषायोंसे बचनेके लिए घोर तप, सयम, व्रत धारण करना ही चाहिए। पर उनसे करते हुए भी लक्ष्य यहर रखना है कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हू, जो इसमें है वह कहीं जाना नहीं, और जो इसमें नहीं है वह बाहर कहींसे आता नहीं। यह तो मात्र ज्ञानस्वरूप है। ऐसा अपना परिणाम करें तो यह लाभकी बात है। यह लक्ष्य नहीं भूलना चाहिए। और ऐसी जैसा कि हमारी दृष्टिकी वृत्ति बने कि सहज ही जब चाहा तब हम ऐसी दृष्टि बनालें।

हम अपने आप ही इस ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति करके इस सुधा-रस का पान करते रहें, ऐसा बल बढता है तो इस स्वसम्वेदन ज्ञानके निरन्तर अभ्यासके द्वारा बढ़ता है। जिसका अभ्यास ही उसीमे हो तो यह जीव झट-झट लगेगा ना, तो हमे अपने आत्मस्वरूपके जाननेका अभ्यास बनाना चाहिए। यह निज ज्ञान हो तो हमारी शरण होगा। यही हमारा परम मित्र है। और इसको छोडकर कुछ भी बाह्यवृत्तियोंमें लक्ष्यको लगाया जाये, वह चाहे परिजनकी उन्नतिका हो और चाहे धन वैभवकी उन्नतिका हो। व सब भूल हैं और उन भूलोंसे केवल संकट ही हाथ लगेंगे। सो श्रद्धामे तो यह निर्णय होना ही चाहिए कि समस्त विकल्पजालोंसे छूटकर एक निजके ही ज्ञानमें रह जाएँ तो संकटोंसे छूट सकते हैं अन्यथा नहीं छूट सकते हैं।

रागद्वेषरहित आत्माके स्वरूपका अनुभवरूप जो ज्ञान होता है उस ज्ञानसे आत्माका मोक्ष होता है। जो आत्माके बोधसे बाह्य जो कुछ भी बोध है उस ज्ञानसे आत्माका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—इस बातको मनमें रखकर आचार्यदेव अब इस दोहेको कहते हैं।

जो णियबोहह वाहिरउ णाणुवि कज्जु ण तेण।
दुक्खहं कारणु जेण तउ जीवहँ होइ खणेण ॥७५॥

आत्माके बोधसे बाहरका जितना भी ज्ञान है उस ज्ञानसे कार्य सिद्ध नहीं होता, बल्कि कहीं कहीं तो वह बोध दुःखका कारण बन जाता है। जहा आत्मतत्त्वका बोध नहीं है वहा दान, पूजा, तपस्या आदि भी किए जाते हैं तो भी वहा भोगकी वासना और आकाक्षा मनमें रहती है। आत्माको तो आनन्द चाहिए। यदि आनन्द आत्माके ध्यानमें मिल जाता है तब तो

उसकी लगन आत्मामें आती है। अपने आपके स्वरूपका तो अनुभव होता नहीं, तब किसी न किसी बाहरी पदार्थसे आनन्दकी कल्पना करेंगे ही। इसे तो आनन्द चाहिए। अगर अपने आपके स्वरूपसे आनन्द मिलता है तब तो बाहरी पदार्थोंमें भटकनेकी जरूरत नहीं। जब आनन्द मिला नहीं अपने आपमें अज्ञानी जीवको तो यह प्राकृतिक बात है कि वह किसी न किसी पर-पदार्थमें लगेगा। सो किसी भी परपदार्थमें इसकी बुद्धि लगे उससे इसके मोक्षका या अनुभवका कार्य सिद्ध नहीं होता है। वहा तो भोगोंकी आकाक्षा में ही चित्त बसा रहता है। देखा भोगसे उसमें चित्त बसा रहता है। भोग हो तो उसमें चित्त बसा रहता है या अनुभव किया भोग हो तो उसमें आकाक्षा रहती है। तो जब आकाक्षा है, निदान है तो बडे दान तप आदि भी किए जायें तो भी उनके फलमें निदान बध ही मिला।

निदान बधमें भावी भोगोंकी आशा रखी जाती है—मुझे उत्तमरूप मिले, मुझे उत्तम सुन्दरता प्राप्त हो, मेरा सौभाग्य बना रहे, बलदेव, वसुदेव आदिके पद प्राप्त हों, कामदेव बनूँ, इन्द्रदेव बनूँ इस प्रकारके पदोंकी प्राप्ति-रूप भावी भोगोंकी आशा हुआ करती है निदानमें, अज्ञानमें। तो निदान बध ही एक शल्य है। पर ये शल्य या कोई भी सकट इस आत्माके ज्ञानमें नहीं बसते। सर्वप्रकारके मनोरथ, कामनाए विकल्प—ये सब ज्वालाएँ जहा नहीं रहती हैं ऐसा यह आत्मा है। जिन बाहरी पदार्थोंमें यह अज्ञानी लगता है उन बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धसे कुछ अनुभव भी तो किया होगा ना कि कहीं सुख न मिलेगा। नई-नई आशाएँ होती हैं, नए नए उमग चलते हैं, उनमें जगह-जगह भ्रम चलता है कि अमुक जगह सुख मिलेगा।

जैसे रेतीली नदीमें गर्मीके दिनोंमे प्यासा हिरन आगेकी रेत देखकर दौडता है वह पानी होगा, वहा प्यास बुझेगी, पर निकट जाने पर वहा पानी नहीं मिलता है। प्यास कहासे बुझे, बल्कि जो दौड लगायी उससे प्यास बढ़ गई। फिर प्याससे और बेचैन होकर ऊचे मुंह उठाकर देखता है तो बाहर की चमकीली रेत पानी जैसी मालूम होती है, वहा पानी मिलेगा, ऐसा सोच कर दौड़ लगाता है—आखिर वह दौड़ता-दौड़ता थक जाता है और अपनी प्यास नहीं बुझा पाता है और अपने प्राण गवा देता है। इसी प्रकार विषयों के लोभी अज्ञानी पुरुष विषयोंमें सुखकी आशा लगाए हैं। सुन्दर सुन्दररूप देखनेको मिलेंगे, उससे आनन्द होगा। अरे काहेका रूप, एक पुद्गलद्रव्य है, स्कध है, उसमें रूप हो गया तो क्या हो गया? वहा तो कुछ भी आत्माको सार नहीं मिल रहा है। देखलो, हो गया। तो रूप देखनेकी इच्छा इस अज्ञानी जीवको रहा करती है। पर बाहरी पदार्थोंमें आनन्द कहीं नहीं

मिलेगा। फिर रस पीने की इच्छा होती है।

जैसे रूपका देखना अज्ञानीको लगता तो सुहावना है पर मिलता कुछ भी नहीं है, बल्कि अनर्थ ही मिलता है। इसी रसकी आसक्तिमें, रसके लोभ में भोग ना करना चाहते हैं बहुतसी चीजोंका और खाते भी हैं, भोगते भी हैं, पर रूप विषयकी तरह ही यह रसविषय भी नि.सार है। जैसे रूप देखते समय कुछ भला लगता है पर इसमें हाथ कुछ नही आता है। परके रूपमें परका रूप है। यह अपने आपमे कल्पनाए बनाकर दु.खी होता रहता है। इसी प्रकार उस रसके ग्रहणमे, स्वादमे भी आत्माका रखा कुछ नही है। यह आत्मा अपने आपमे ही विकल्प बनाता रहता है। यह केवल विकल्पोका कर्ता है और वहा वह रस अपने आधारभूत पुद्गलका ही कर्ता है। पुद्गल का रस पुद्गलसे निकलकर आत्मामे नहीं जाता। यह नि सार है। पुद्गल का एक धर्म है जो आत्माके लिए नि:सार है। वहा यह आत्मा लगा रहता है, बेचैन होता है। चलो अमुक पदार्थोंका रस हमे आनन्द देगा। सो बहुत से कष्ट उठाकर उन चीजोंका सचय करते हैं और उसके भोगते समय अनन्तगुणनिधान इस परमात्मदेवका चिंतन छोड़कर भोजनमे विषयोंके रसमे आसक्त रहते हैं। यह अपने आपके चैतन्य प्रभुपर एक बहुत बड़ा आघात पहुचाया जा रहा है। चलो अमुक रसमे आनन्द मिलेगा। इस तरह रसोंके पीछे यह जीव दौड़ लगा रहा है।

भैया! पेट भर खाना भी मिल गया, चैनमे हैं तो अब कुछ गीत सुननेकी आशा रखेंगे। कोई सुन्दर राग सुन्दर गाना सुनें तो उसके सुननेमे आनन्द मिलेगा। वहां भी कोई शब्द आत्मामे प्रवेश नहीं करते हैं। शब्द शब्दकी जगह हैं, आत्मा-आत्माकी जगह है। आत्मासे शब्दका सम्बन्ध नही है, मगर लोभ लगा रखा है, सो गीत सगीतके रागकी धुनमें होड़ लगाये फिरते हैं। संगीतमें आनन्द मिलेगा। जब इसमें भी उसे आनन्द न मिलेगा तो उससे आगे स्पर्शन और घ्राण इन्द्रियके विषयोंमे लगता है। भला बतलावो अच्छा इत्र लगा लिया तो उससे आत्मामें कौनसा गुण पैदा हो गया? पर यह बेचैन रहता है विषयोंके ग्रहणके लिए।

सबसे विकट विषय है मनका। ख्याति हो, नामवरी हो, सब लोग मुझे अच्छा कहें। अरे यह स्वप्न जैसी तो दुनियां है। कुछ समयके लिए है। आखिर मिट जाना है। खुद तो मिट जायेंगे, कुछ नामोनिशा नहीं रहेगा, मगर ऐसा ध्यान, ऐसी चिंता, ऐसा विकल्प, ऐसी आशा कर रहे हैं कि अनन्त आनन्दनिधान ज्ञानपुञ्ज इस आत्मतत्त्वकी खबर नहीं रखने देते। यह अपने आपके परमात्मदेव पर कितना बड़ा अन्याय है। जो

बहिर्मुख होकर अपने आपके स्वरूपका घात किया जा रहा है, इस आत्माके सहजस्वरूपके ज्ञानसे जितना भी ज्ञान है उस ज्ञानसे आत्माका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। वे सब दु खके कारण बनते हैं। आत्मबोधी एक आत्माका रहस्य जानना है। जहां विशुद्ध ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप आत्माका स्वभाव अनुभवमें आ रहा है, केवल जाननहार बना हुआ है, कोई विकल्पमाला जहा नहीं चलती है, ऐसा जो निजबोध है वह निजज्ञान ही आत्माका साधक है। उसे छोड़कर अन्य वस्तुविषयक जो बोध है वह शास्त्रजनित ज्ञान भी क्यों न हो, उससे आत्माका काम सिद्ध नहीं होता।

भैया! शास्त्रों की चर्चा चलते-चलते भी कभी बड़ी लड़ाईका रूप रख लेती हैं। यह क्या है? क्या ज्ञान लड़ाई कराया करता है? मगर शास्त्रोंकी चर्चा ही करने-करनेमें वहा तो क्रोध उमड आता है। एक दूसरे पर गालिया होने लगती हैं। क्या यह कोई ज्ञानका कार्य है? यह तो अज्ञान का कार्य है। शास्त्रादिकजनित ज्ञान भी क्यों न हो, यदि वह आत्माके ज्ञानको छूता हुआ नहीं है तो उस ज्ञानसे भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती है। बडेसे बड़ा तप भी किया जा रहा हो जो कायर पुरुषोंसे नहीं किया जा सकता है, किन्तु वीतराग शुद्ध ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्वका जहा ज्ञान नहीं है, मै वस्तुत क्या हू, अपने आप अपने सत्त्वके कारण मैं किस स्वरूप रूप हू—ऐसा जहा ज्ञान न हो रहा हो वह भी जीवके दु खका कारण बनता है और जहा शास्त्रोंमें सुना जाता है कि अमुक मुनि बड़ी ऊंची तपस्या करके निदान बंध बाधकर अमुक राजा हुए। तो उसके चरित्रको दिखाया जाता है। तो वे राजा केवल आराम और भोगोंमें ही जुट रहे हैं, क्योंकि उसका उनके निदान बध है। आशा लगाकर राजा महाराजा पदको प्राप्त किया। इस कारण राजा महाराजा बनकर भी वह केवल भोगोंमें ही अपना जीवन बिताता है। तो फिर अतमें उसके फलमे नरक आदिक दुर्गति होती है। सो बताया है कि ऐसा बड़ा दान, पूजा, तपका पुण्य कार्य भी एक आत्मज्ञान के बिना हो तो वह भी जीवको सुलझाती नहीं है, बल्कि उलझाती है।

भैया! यद्यपि शास्त्रोंमें उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है उससे चाहे तीनों लोककी बातें जान लीं। अमुक जगह यह रचना है, नरकोंमें ऐसी रचना है, स्वर्गोंमें यों है, देव यों होते हैं, पुरानी बातें भी जान लीं कि इसके पहिले चतुर्थ काल था और जो-जो भी रचनाएं हैं सब पढ़ लीं, किन्तु यदि ज्ञानसे इस आत्माके सहजस्वरूपको नहीं छुवा जाता तो ऐसा स्वसम्वेदनरहित ज्ञान यह शास्त्रजन्यज्ञान और यह तपस्या मुख्यवृत्तिसे पुण्यका कारण बनती है। दो प्रकारके अज्ञानी जन हैं ये। जो किसी प्रकार धर्मकी धुनमें

तो लगे हैं, मगर आत्माके स्वभावको छू नहीं सकते। ज्ञान नहीं हो सकता उनमे। एक तो हैं मायाचारी पुरुष, जो ख्याति, पूजा, लाभके लिए अपने इस तपमे बडा ध्यान दिया करते हैं। एक तो वे दुर्गतिके ही पात्र हैं क्योंकि उनका आशय खोटा है, किन्तु जो धर्मबुद्धिसे, कल्याणबुद्धिसे व्रत नियम, संयम साध रहा हैं पर आत्माका ज्ञान नहीं कर पाया तो उसके ये तप आदिक पुण्यके कार्य बनेंगे। पुण्यका कारण हो जाये वह शास्त्रजनित ज्ञान जिसमे कि शुद्ध आत्माका परिज्ञान नही बस रहा है, किन्तु मुक्तिका कारण तो हो ही नहीं सकता, यह एक अभिप्राय है।

अब यह बतलाते हैं कि जिस ज्ञानसे मिथ्यात्वकी वृद्धि, रागादिककी वृद्धि होती है वह ज्ञान आत्मज्ञानस्वरूप नहीं है, सम्यग्ज्ञान ही नहीं है— इस बातका निरूपण अब इस दोहेमें किया जा रहा है।

त णिय णाणु जि होइ णवि जेण पवड्ढइ राउ।
दिणयर किरणह पुरउ जिय किं विलसइ तमराउ ॥७६॥

जिस ज्ञानसे राग बढता हो वह ज्ञान, ज्ञानही नहीं है। क्या ज्ञानसे राग बढा करता है? बढ़ना तो न चाहिए। मगर देखा जा रहा है कि पशु पक्षीका ज्ञान मनुष्योंके ज्ञानसे हल्का है। इस कारण उनके भोगोके साधन नाना नहीं हैं। जब भूख लगी, मिल गई घास खा लिया, संतुष्ट हो गए। जब उनके कामवासना हुई तो अपनी ऋतुकी अनुकूल परिस्थितिमे भोग लिया। जब उन्होंने अपना पेट भर लिया तो बैठे जुगालिया कर रहे हैं या टाग पसारकर बैठे रहते हैं। हो गया आराम, पर मनुष्योंको देखो— क्योंकि इनका ज्ञान बढा हुआ है ना, तो जिससे भूख मिट जाये, ऐसे ही भोजन तक रहें तो नहीं रह सकते हैं। इनको तो बढ़िया भोजन चाहिए। कितनी तरहके मसाले? उन्हें बेचारे वे पशु पक्षी क्या जाने? एक चौकेमें कितनी तरहकी डिबिया रखी जाती हैं—धनिया, जीरा, आजवाइन, हल्दी, गर्ममसाला, सोंठ, इलायची, कालीमिर्च, नमक, क्या-क्या चीजें पड़ी हुई है? सैकड़ों चीजे मिला जुलाकर रसीला चटपटा भोजन बनाना यह सब ज्ञानने ही तो सिखाया है। कैसा गदा साहित्य, गदा सगीत और कैसा रगीला अलकार देना और कितने तरीकोंसे भोगोंके साधन जुटाना, यह मनुष्योंकी बात कही जा रही है, क्योंकि इनमें ज्ञान है ना ज्यादा। तो यह जीव भोगोंमे नाना तरहसे वह रहा है। तो क्या उसके इस ज्ञानका नाम ज्ञान है? क्या आत्मज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, जिससे मोक्ष होगा? नहीं।

वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है। जो आत्मज्ञानसे बाहरका ज्ञान है, उस ज्ञानसे आत्माका कार्य सिद्ध नहीं होता है। यह सब दुखका कारण है।

आत्मज्ञानशून्य ज्ञानसे अनेक ऐब बनने लगते हैं। एक बात नहीं, ५ इन्द्रिया और छठा मन, इन ६ विषयों की भी बात खूब परख लो।

नामवरीकी, धनकी कोई हद ही नहीं है। घरमें बड़ा कहलाने लगे तो इस बडप्पनसे ही खुश हो जायें, सतुष्ट हो जाये, सो नहीं। अभी पडौसमें मुझे बड़ा कहलाना चाहिए। चलो, पड़ौसमें बड़ा कहलवाना चाहा, वहीं तक रह जाये सो नहीं। अभी गावमें बड़ा होना है, गांवमें बडे हो गए। अब इस जिलेमें, फिर देशमें, फिर देशको छोड़कर विदेशमें, वहा भी नामवरी हो जाये, सब परिचित दुनियामें हों। दुनियामें भी नाम हो जाये तो उससे भी कुछ आगे और दिखता है। फिर थोड़ा नाम कर लेना तो सरल है पर नाम बनाए रहना कठिन है। साल ६ माह त्याग कर दिया, देशसेवामें लग गए तो देशसेवा करनेसे नाम बढ जायेगा, पर वह नाम बराबर बना रहे इसके लिए ज्यादा चिन्ता और यत्न करना पड़ता है। सो यह इन्द्रिय और मनका विषय इस मनुष्यको, सब जीवोंको अधिक सता रहा है क्योंकि इसे कुछ ज्ञान मिला है।

यहा आचार्य कहते हैं कि उसे ज्ञान क्यों कहते हैं? वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है जिस ज्ञानसे रागकी बढ़वारी हो। क्या कभी देखा सुना है कि सूर्यकी किरणोंके आगे अंधकारका फैलाव टिक सका है? जैसे सूर्यके आगे अधकार नहीं ठहरता, इसी प्रकार वास्तविक ज्ञानके आगे रागादिक नहीं ठहरते। वास्तविक ज्ञान वह है जो रागादिकरहित आत्मतत्त्वको दिखावे, अनुभव करावे। वीतराग नित्य आनन्दस्वभाव वाले निजपरमात्मतत्त्वका परिज्ञान ही वास्तवमें ज्ञान है, और उस ज्ञानके होनेपर रागादिक बढ नहीं सकते। *उस ज्ञानसे बाहरका जितना भी ज्ञान है वह ज्ञान रागद्वेषकी वृद्धिका कारण* है। जिससे रागद्वेष बढे, वह ज्ञान आत्मज्ञान नहीं है। देखो यह राग विषयों की अभिलाषारूप है, ये पचेन्द्रियके विषय इनकी आकाक्षाए, इनका लगाव, ये ही उस वीतराग परमानन्दभावके रोकनहार हैं। वीतराग परमानन्द शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न होता है। विषयोंकी भावनासे क्लेश मिलेगा। निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे आनन्द मिलेगा।

विषयोंकी अभिलाषारूप राग जिस ज्ञानसे बढ़ता हो वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है। इस सम्बन्धमें यहा यह दृष्टांत दिया जा रहा है कि हे जीव! सूर्यकी किरणोंके सामने अंधकारका फैलाव टिक सकता है क्या? नहीं टिक सकता है। क्योंकि सूर्यकी किरणोंका ऐसा ही प्रताप है कि वे अधकारको दूर करती हुई ही प्रकट होती हैं। इसी प्रकार समस्त विभावरहित केवल प्रतिभासमात्र आत्मस्वरूपके ज्ञानका ऐसा ही प्रताप है कि रागद्वेषको हटाना

हुआ ही प्रकट होता है जिस ज्ञानसे, चाहे वह शास्त्रके अभ्यासकी उत्पत्ति हो, पर जिस ज्ञानसे रागादिक बढते हों वह वास्तवमें ज्ञान ही नही है। ये रागादिक आकुलतावोंकी उत्पत्ति करने वाले है। अनाकुलतारूप पारमार्थिक आनन्दके विरोधी हैं। ज्ञानका काम दु ख उत्पन्न करना नहीं है। जिस ज्ञान से क्लेश रहे, आकुलता रहे, राग बढे वह ज्ञान, ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान तो वही है जिसके फलमें आत्माको मोक्ष प्राप्त होता है। सो बाह्य पदार्थोंमें ज्ञान मोक्षपदका सहायक नहीं है, अत कार्यकारी नहीं है। हर प्रयत्नसे आत्माके ज्ञानमें हम सबका लगना श्रेयस्कर है।

ज्ञानी पुरुषोंको एक निज शुद्ध आत्मस्वरूपको छोड़कर और कुछ भी उपादेय नहीं होता, इसका अब वर्णन किया जा रहा है।

अप्पा मिल्लिवि णाणियहं अण्णु ण सदरु वत्थु।
तेण ण विसयहं मणु रमइ जाणं तहं परमत्थु ॥७७॥

शुद्ध बुद्ध एकस्वभाव वाले परमार्थ पदार्थको छोड़कर ज्ञानी जीवोंको अन्य कोई वस्तु सुन्दर प्रतिभास नहीं होती। जिसको जहा उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव होता है उसे वही तो प्रिय लगेगा। अज्ञानी विषयासक्त पुरुषको इन्द्रियके विषयोंमे आनन्द मालूम होता है तो विषयासक्त पुरुष विषयोंके आनन्दके लिए अपने प्राण भी गवा देता है और उस विषयमें आनन्द लेना चाहता है। उसकी रुचि उस ओर है। जैसे दीपकोंके पतगे यह देखकर भी कि मुझ जैसे ये बीसों पतगे जल रहे हैं, फिर भी उस रूपके देखनेके लोभी उस दीपककी सिखा पर गिर ही पड़ते हैं और अपनेको जला डालते हैं। क्योंकि प्रेम है ना उन्हें विषयोंका, जिसको जिसका प्रेम है उसके मिलनेके लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर कर डालते हैं।

भैया! यों तो पचेन्द्रियके प्रसिद्ध दृष्टान्त हैं, पर इतिहासको भी उठाकर देखो कि जिस बादशाहकी, जिस राजाकी जिस किसी कन्या पर दृष्टि हुई, रुचि हुई, प्रीति हुई, विषयवासना जगी। वह समर्थ है तो अनेक प्रयत्न करके विवाह कर लिया। पुराणोंमें बहुत जगहोंमे ऐसी बाते मिलेगी। राजकाज सब तज करके भी अपने विषयोंके साधनोंमें श्रम कर डालते हैं। जिसको जिस जगह आनन्दका अनुभव होता है वह उस जगह सर्व कुछ न्यौछावर करके भी लगता है। यह बात दूसरी है कि किसीने भ्रममें आनन्द मान लिया। मान लिया आनन्द है और है बड़े सकटकी बात। लोग जिसमें माने कि यह आनन्द है वहा वे लग ही जाते हैं। ज्ञानी पुरुषने चू कि सभी बातोंका अनुभव पहिले कर डाला था, किसी शुभ क्षणमें अपने आपके निर्विकल्प सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपके जाननेका अनुभव हो और उसमें जो

अलौकिक आनन्द प्राप्त किया, उसके बाद ज्ञानियोंको अब केवल वही ज्ञान-स्वभावी परमात्मपदार्थ ही रुचता है और अन्य पदार्थ उन्हें नहीं रुचते।

जो निज शुद्ध आत्मद्रव्यके परिज्ञानमें परिणत हैं—ऐसे ज्ञानी जीवों को भी निज परमार्थ पदार्थ ही निरन्तर प्रतिभास होता है। यही कारण है कि ज्ञानी जीवोंका मन पचेन्द्रियके विषयोंमें और कामभोगोंमें नहीं रमता है। ये पंचेन्द्रियके विषय कामभोग ये शुद्ध आत्माकी प्राप्तिके प्रतिपक्ष हैं, शत्रु हैं, भ्रमकी नींव पर यह सारा ससारका महल खडा हुआ है। यहा जड़ में सारभूत बात कुछ नहीं है। जैसे स्वप्नमें देखी हुई बात स्वप्नमें सत्य मालूम देती है पर वहा है कुछ भी नहीं। केवल कल्पनाकी तरगे ही चल रही हैं। इसी तरह यहा भी मोहके इतने बडे स्वप्नमें जो कुछ मालूम पड रहा है यह सत्य दिखाई दे रहा है, पर ज्ञानी जीव जिसको परमार्थके रहस्य का अनुभव होता है वह जानता है कि इस बाह्यजगतमे सारभूत चीज कुछ भी नहीं है। ये पचेन्द्रियके विषय, ये सब इस प्रभुकी प्रभुताके दुश्मन हैं। सभी जीव आनन्दस्वरूप हैं। आनन्द जीवका स्वभाव ही है।

जैसे जीव ज्ञानसे रचित है, ज्ञानस्वभावको छोडकर अन्य कुछ जीवको मालूम नहीं देता। इसी तरह आनन्द भी स्वभाव है। ज्ञानानन्द स्वभावके अतिरिक्त जीवका अन्य कोई स्वरूप नहीं मालूम देता। लोग सुखके लिए बड़ा यत्न करते हैं। दूकान, सेवा, सर्विस, घर गृहस्थी बसाना, सतानको शिक्षित बनाना, देशसेवा, समाजसेवा, अपने पचेन्द्रियके विषयोंके साधन जुटाना, कितना कष्ट कर रहे हैं। पर एक यही उपाय अब तक नहीं किया गया कि किसी क्षण सर्वबाह्यजगत् को भिन्न जानकर अपने आपमें एक बार विश्राम किया जाये। निर्विकल्पतारूप विश्रामके क्षणमे इस जीवको अपने सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव हो तो वहां आनन्द मिलेगा। बाह्यमें तो सर्वत्र इसे संकट मिल रहे हैं, पर आश्चर्य यह है कि उन सकटोंको सहता है और आनन्द मानता है।

भैया! इन विषयोंमें कौनसा विषय ऐसा है जो इसको आनन्दमें रख सकता है? जब विषय नहीं हैं तब उनके जोड़नेकी चिन्ता, उनके साधन जुटाना, विषयोंके साधन मिल जाये तो उनमें आसक्त होना, ऐसा क्यों? विषयोंके भोगनेका भी परिणाम आकुलता बिना नहीं होता। शातिपूर्वक तो आत्माके ध्यानका काम है। एक आत्मानुभवके अतिरिक्त जितने भी काम हैं वे सब आकुलतापूर्वक होते हैं। निराकुल होकर कोई खाता हो तो बतलावो। खानेके समयमें कितना ख्याल, कितना चक्र, कितनी कल्पनाए? जल्दी-जल्दी स्वाद ले रहे हैं, क्षोभ मच रहा है। भले ही उस क्षोभमें कोई

जीव क्षोभ न समझ सके क्योंकि परकी ओर आसक्ति है, लेकिन आकुलता से ही खानेका काम बनता है। आकुलतासे ही सब इन्द्रियोंके भोगका काम बनता है। किसी भी बाह्यपदार्थको देखना निराकुलतासे नहीं हो रहा है। आकुलताएं मची हैं जब तक, देखना पड़ रहा है, उठना, बैठना पड़ रहा है। इस छद्मस्थ जीवके ये सारी बातें आकुलतापूर्वक हो रही हैं। इन्द्रियके विषयोंका भोगना आकुलताओंसे ही होता है।

ज्ञानियोंका चित्त विषयोंमें नहीं रमता। उनको तो एक शुद्धज्ञानानन्द स्वभाव आत्मतत्त्वका अनुभव ही उपादेय है। वही उन्हें रुचता है। जैसे अज्ञानी जीवको किन्हीं बाह्यपदार्थोंमें संतोष मिलता है, मिलता नहीं है, वह मानता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को संतोष मिलता है तो एक निज ज्ञानस्वभावी परमात्मतत्त्वके अनुभवमें जिस कालमें यह जीव अपने आपको मात्र ज्ञानस्वरूपमय अनुभव करता है उस कालमें जो आनन्द प्राप्त होता है उसकी उपमा तीन लोकके सभी पुण्यवान् जीवोंके विषयोंको भी एकत्र किया जाये तो भी प्राप्त नहीं हो सकती। जीवका आनन्द स्वभाव है। वीतराग सहजानन्दरूप जो पारमार्थिक सुख है उसका अविनाभावी ही परमात्मपदार्थ का ज्ञान है। हम ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही हैं और सहज ज्ञानानन्द स्वरूप हैं।

भैया ! रागकी प्रेरणासे हम जो जाना करते हैं वह सहज ज्ञान नहीं है। सहजज्ञानमें तरंगें नहीं उठा करती हैं। वहां तो शुद्धज्ञान प्रतिभास ही अनुभवमें रहता है। पंचेन्द्रियके विषयोंमें जो जीव मौज लेता है वह सहज आनन्द नहीं है। सहज आनन्दमें क्षोभकी कणिका भी नहीं होती, किन्तु इन विषयोंके आनन्दमें आदिसे लेकर अन्त तक क्षोभ ही क्षोभ भरा हुआ है। क्षोभरहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परमार्थ, पदार्थका जिसने अनुभव किया है ऐसे ज्ञानीपुरुषको एक आत्मतत्त्व ही उपादेय है। वही उसको रुचता है, अन्यत्र कहीं चित्त नहीं है। यदि आत्मतत्त्वका अनुभव हो रहा है तो वहां

अनुभवका आनन्द लूट रहा है, और जब पूर्वबद्ध रागादिक कर्मोंके विपाकमें उसका उपयोग शुद्ध परमात्मतत्त्व के अनुभवसे हट रहा है और किन्हीं भी बाह्यपदार्थोंके समागममें है, ऐसी भी स्थितिमें वह उसही अलौकिक ज्ञान-स्वरूपके अनुभवका स्मरण बनाए रहता है।

ज्ञानी जीवको शुद्ध आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्य बात रुचती ही नहीं है। अब इस ही बातको एक दृष्टान्त द्वारा समर्थित करते हैं।

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु।

मरगउ जे परियाणियउ तहु कच्चे कउ गण्णु॥७८॥

जैसे जिसने मरकत मणिको जान लिया है उसको काचसे क्या प्रयोजन है, अर्थात् मरकत मणिके गुणोंका, स्वरूपका जिसे परिचय हुआ है उसके काचमें श्रद्धान् नहीं रहता है, कांचमें मन नहीं लगता है। जैसे जिस बालकको चवन्नी, अठन्नीका परिचय हो गया है उसे आप छोटा पैसा दें तो उसका मन नहीं लगता है। हाथसे फेंक देता है, हाथ मार देता है। जैसे जिन विषयासक्त पुरुषोंको अपनी अभिलाषा माफिक किसी विषयमें आनन्द का भ्रम हो गया है तो उसे उस विषयके अतिरिक्त अन्य कुछ सुहाता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी जीवका चित्त अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करनेमें लग चुका है, इसलिए उसको इसमें ही आनन्द बरसता है। जिस कालमें यह मैं अपने आपको ज्ञानमात्र देखूँ उस कालमें मैं कृतकृत्य हू, सर्वसिद्धि समृद्धिसे परिपूर्ण हू—इस प्रकार जिनका चित्त केवल ज्ञानमय आत्मतत्त्वमें लग गया है उनका चित्त अब इस आत्माको छोड़कर अन्य जगह नहीं लग सकता है।

देखो भैया! यह आत्मा स्वय तो ज्ञानानन्दस्वरूप है, पर अपने आप के ज्ञानानन्दस्वरूपका परिचय न होने से यह बाहरमें ज्ञान ढूंढता है और आनन्द ढूढ़ता है। बाहरमें ज्ञान व आनन्द रखा कहा है व ढूंढ कहा रहा है? इस कारण यह सब व्यर्थका परिश्रम होता है और उसमें दु खका अनुभव करता है। इस ज्ञानी जीवको जिसने हाथपर रखे हुए आंवलेकी तरह इस ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्माका परिचय किया है उसका चित्त अब इन्द्रिय विषयोंमें लग नहीं सकता। जैसे मिथ्यादृष्टी जीवको आत्मतत्त्वकी बात सुहाती नहीं है, इसी तरह सम्यग्दृष्टी जीवको अनात्मतत्त्वकी बात, विषय-सचर्योंकी बात सुहाती नहीं है। जैसे अनेक उपाय किए जाए तो भी अज्ञानी जीवका वस्तुस्वरूपमें चित्त नहीं जाता, उसे तो अपना इष्ट विषय ही चाहिए। इसी प्रकार ज्ञानी जीवको लाखों उपायोंसे कोई बहकाया करे, किन्तु उसका चित्त विषयोंमें नहीं लगता है। एक शुद्ध आत्मतत्त्वके अनुभवमें ही

रहना है। जो रत्नकी परीक्षा कर चुका, रत्नकी परीक्षा करनेका जिसे ज्ञान बना हुआ है ऐसे पुरुषको क्या काचसे कोई अपेक्षा है? क्या काचकी परीक्षा मे, काचके रखनेमें उसे उत्सुकता रहती है? नहीं रहती है। इसी प्रकार निज-परमात्मस्वरूपकी जिन्हें परीक्षा हो गई, परिज्ञान हो गया, जिन्हे परमात्मस्वरूपकी परीक्षाका परिज्ञान है, ऐसे ज्ञानी सत पुरुषोको क्या इन विषय भोगरूपी काचके खण्डोंका कोई प्रयोजन रहता है? कोई प्रयोजन नहीं है।

भैया! वास्तविक आनन्द तो अपने आत्मस्वरूपके मननमें है। कोई भी वाह्यवस्तुमें उपयोग बसाकर यह जीव व्याकुल होता है, कर्मबन्ध करता है, संकट सहता है। अत अनेक यत्न करके भी एक सम्यग्ज्ञानको बनाएं और इस सम्यग्ज्ञानके अनुभवसे कर्मजालोंको काटें। यदि हम ऐसा कर सकते हैं तो हमने वास्तविक मायनेमें प्रभुकी पूजा की, उपासना की और यह नहा कर सकते हैं तो हम अज्ञान और मोहके स्वप्नमे ही बसे हुए हैं, ऐसा समझना चाहिए।

अब यह कथन करते हैं कि कर्मके फलको भोगता हुआ जो पुरुष रागद्वेषको करता है, वह कर्मोंसे बन्धता है—

भुंजंतु विणियकम्मफलु मोहइं जो जि करेइ।
भाउ असुंदरु सुंदरुवि सो पर कम्मु जणेइ॥ ७९॥

जो जीव पूर्वबद्ध अपने कर्मोंके फलको भोगता हुआ भी मोहसे असुन्दर और सुन्दर परिणामोंको करता है वह केवल कर्मोंसे ही बन्धता है। इस आत्मा का काम तो था वीतराग परमाल्हादरूप शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्वका अनुभव करना, किन्तु करने लगा है शुभ अशुभ कर्म और उनके फलको भोगना। इन दोनों कर्तव्योंमें कितना अन्तर है? कहां तो जीवका काम यह था कि अपने शुद्ध ज्ञानज्योतिका ही ज्ञानात्मक अनुभव किया करें और कहां ये ददफद आ गये हैं कि नाना प्रकारकी शुभ अशुभ कल्पनाए जगती हैं, रागद्वेष जगते हैं और उनके फलमे सुख और दुखका अनुभव किया जाता है। सो इस शुभ अशुभ कर्मोंके फलको मोही प्राप्त ही करता है। आत्मा तो निर्मोह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, पर उपाधिके सम्बन्धका निमित्त पाकर जीवमें एक विकार उत्पन्न होता है, उस मोहके उदयसे जो पुरुष कर्मफलको भोगता है, शुभ अशुभ कर्मफलको करता है वह कर्मोंका बन्ध करता है।

कर्म उदयमे आते हैं, ऐसी स्थितिमे जो पुरुष अपने स्वस्थ भावसे च्युत होकर रागद्वेषको करता है वह ही पुरुष कर्मोंको बाधता है। कुछ कर्मों

के उदयकी ऐसी परिस्थितियां हैं कि उनका उदय होने पर आत्मा सावधान रह सकता है और अपने स्वरूपकी ओर उन्मुख रह सकता है। और कुछ कर्मोंके उदय ऐसी विकट परिस्थितिके होते हैं कि जिनका उदय होने पर आत्माको स्वस्थ रहनेका, सावधान रहनेका विवेक ही नहीं जग सकता। दोनों ही स्थितियोंमें यह देख लो कि जो कर्मोंका बन्ध होना है वह तो स्वस्थ भावसे च्युत होनेसे होता है, अर्थात् परपदार्थोंमें लगनेसे होता है, और जिसके कर्म पौद्गलिक नहीं बन्धते हैं उसको ऐसा अपनी आत्माकी ओर उन्मुख न रहनेके कारण हुआ है।

भैया! इस जीवका बन्धन भावोंका बन्धन है। यह अपनी कल्पनासे घरमें मोह बसा कर, राग बसाकर बैठे-बैठे ही बड़े संकटोंका अनुभव करता है और एक निर्मोह पुरुष कुछ भी करता हुआ अपनेमें संकटोंका अनुभव नहीं करता है। भावोंका बन्धन एक विचित्र बन्धन है। बन्धन ही भावोंका है– जीवके साथ। नहीं तो बतलावो दुकान दूसरी जगह है आपकी, आप मन्दिरमें बैठे हैं, घर घरमें है, घरके लोग कहीं भी हों, आप यहां हैं, पर जिसको मोह है, उसको ही स्मरण रहता है, उसको भावोंका बन्धन लगा है। और बन्धन क्या है? आत्मा कोई मूर्तिक चीज तो है नहीं, जो रस्सी जैसा लम्बा पदार्थ हो कि इसे किसी आत्मासे जोड़ दिया जाय। यह अपने आप में भाव किया करता है और भावोंका बन्धन मानता है। जो वस्तुकी सुन्दरता और असुन्दरताकी कल्पनाके भाव बनाता है ऐसा पुरुष कर्मोंको उत्पन्न करता है और ज्ञानी सन्त पुरुष जिसको अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव हुआ है वह कितने ही कर्मोदयके आने पर भी अपने स्वरूपका स्मरण रखता है तो उसको संकट नहीं सताते हैं। कर्तव्य अपना यह है कि अपनेको मैं परिवार वाला हूं, धन वाला हूं, अमुक पोजीशनका हूं, इस प्रकार न माने। इन मान्यतावोंमें संकट ही संकट बसा है। यद्यपि व्यवहारमें ऐसा करना पड़ता है पर अन्तरमें श्रद्धा यह रखो कि मेरा स्वरूप तो प्रभुकी तरह शुद्ध ज्ञानमात्र है, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है और इस ही रूपमें अपने आपको निरखनेका प्रयत्न करें। इस ही उपायसे इस आत्माके संकट दूर हो सकते हैं और संकट दूर होनेका अन्य उपाय नहीं है।

अब यहां बतला रहे हैं कि कर्मोंका अनुभव भी उदयमें आ रहा हो तो जो भी पुरुष रागद्वेषको नहीं करता है, वह कर्म भी नहीं बान्धता है।

भुंजंतु विणियकम्मफलु जो तहिं राउ ण जाइ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ॥ ८०॥

अपने पाये हुए कर्मोंके फलको भोगता हुआ भी जो पुरुष उस फलके

भोगनेसे रागद्वेषको नहीं प्राप्त होता है, वह फिर कर्मको नहीं बांधता है, जिस कर्मबंधके अभावके परिणामसे पहिले बंधे हुए कर्म भी नाशको प्राप्त हो जाते हैं– ऐसी स्थिति ज्ञानमें होती है। ज्ञान शुद्ध हो तो कितने ही कर्मोंका उदय आ रहा हो, पर उसमे रागद्वेष नहीं हैं। जैसे सम्यग्दृष्टी पुरुष है, अव्रती सम्यग्दृष्टी है, किसी भी समय जब वह स्वानुभवमें होता है उस कालमें अनेक कषाय उदयमें आ रहे हों, पर अनुभव है स्वका तो उन कषायोंमे रागद्वेष नहीं रहता है। उस समय कर्मबंध अल्प होते हैं और ऊंचेके गुणस्थानमे अत्यन्त मन्द कषाय रहती है। वहा कर्मबंध नहीं रहता है। अपनी शुद्धात्माका ज्ञान जब नहीं रहता है तो कर्म बंधते हैं। जीव तो शुद्ध स्वच्छ स्वभावका है। उस शुद्ध स्वच्छ स्वभावकी वर्तनामें जहा रंच भी विकार हुआ कि परउपाधि बंध जाती है।

भैया! ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योगका मेल है कि ज्ञानका जहां विपरिणमन हुआ कि स्वयं ही कर्मबंध जाते हैं। कोई एक ईश्वर समस्त जीवोंके पीछे लगा हो और उनके सुख दुःख दोनोंकी धुनमें हो तो उसको कितनी जगह स्खलन हो सकता है। अनन्त जीव हैं, कोई पशु है, पक्षी हैं, कीडा है, मकौड़ा है, मनुष्य है, कितनी दुनियामे जगह है, किसी एक भिन्न ईश्वरको संभाल करनेका काम आये तो असम्भव बात है, पर जीव जब अपने विकारमे आता हैं उस ही समय प्रकृत्या कर्मबंध हो जाता है। उनका उदय हुआ कि उनका फल मिलने लगा। सो कोई ज्ञानी पुरुष ऐसा भी समर्थ है कि पहिले अज्ञान दशामे जो कर्म बंधे थे, उनका उदय भी आ रहा हो तो भी रागद्वेषको नहीं करता है। कर्म जितने भी बांधे जाते हैं वे कषायभाव से बंधते हैं। शुद्ध आत्माके ज्ञानका अभाव हो तो कर्म बंधते हैं। सो बंध तो गया अज्ञानमें, पर उदय तो अज्ञान दशामें भी आता है और ज्ञानदशामें भी आता है। बंधन है अज्ञानसे। तो ज्ञान दशामें उदय हो रहा हो तो उसके उदयको ज्ञान निष्फल कर देता है।

अज्ञान सबसे बड़ा पाप है। जिसे अपनी शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं हुआ, परिचय नहीं हुआ, ज्ञान प्रकाशमात्र आत्माको नहीं पहिचाना वह पुरुष अज्ञानी है। और ऐसा पुरुष महाव्रत धारण करले तो उसे द्रव्यलिङ्गी मुनि कहते हैं। शरीरकी क्रियावोंसे समिति और व्रत पाला जा रहा है, पर कर्मोंकी निर्जराकी कुञ्जी तो ज्ञानदृष्टि है। वह ज्ञानदृष्टि नहीं जग रही है और कषाय मंद हैं। बडे व्रत और संयम पाले जा रहे हैं, पर मन, वचन, कायकी चेष्टासे क्या लाभ है? अन्तरमे तो ज्ञानदृष्टि नहीं है इसलिए कर्म बराबर चले जाते हैं, और एक गृहस्थ है, उसमें ज्ञानदृष्टि जगी है, परि-

स्थितिवश घरके झंझटोंमें है, लेकिन ज्ञानदृष्टि जग जानेसे उनके कर्मबंध कम होते हैं। सो इन कर्मोंके फलको भोगता हुआ भी यह ज्ञानी जीव कर्मफलसे तृप्त और लीन नहीं है, किन्तु वीतराग शुद्ध सहज आनन्दस्वभावरूप आत्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय आनन्दसे तृप्त रहता है।

भैया! जिसे मालूम है कि ससारमें सुखके बाद दुःख आता है और दुःखके बाद सुख आता है उसे सुख मिल रहा हो तो भी सुखमें मस्त नहीं रह सकता है क्योंकि यह विदित है कि सुखके बाद दुःख आयेगा और उस पर दुःख आ गया हो तो वह घबड़ाता नहीं है क्योंकि वह जानता है कि दुःखके बाद सुख आयगा। तो ज्ञानी जीवको यह सब हाल विदित है कि सुख और दुःख आनन्द गुणके विकार हैं और ये चक्रकी तरह परिवर्तित हो रहे हैं। जैसे चक्र घूम रहा हो तो उसकी ओर घूमते रहते हैं। इसी प्रकार सुख और दुःख घूमते रहते हैं। कोई भी जीव ऐसा नहीं है जिसके घंटों साता वेदनीय का उदय रह सकता हो और कोई भी ऐसा नहीं है कि जिसके घंटों असाता वेदनीयका उदय रहता हो। नारकी जीवोंके असाता वेदनीय प्रधानरूपसे है और अन्तमुहूर्तको होकर कुछ क्षणको साता वेदनीयका उदय होता है। तो साता वेदनीयके फलमें उन्हें एक विश्रामसा कुछ मिलता है। जैसे मारकाट तेज हो रही हो और कुछ कम हो गई हो तो उस कम मारकाटमें कुछ साता अनुभवमें आती है।

जैसे किसीके १०४ डिग्री बुखार है और उसमें २ डिग्री कम हो जाय तो वह सुखका अनुभव करता है। वस्तुतः तो अब भी बुखार ही है, मगर बुखारकी कमीमें जैसे सुखका अनुभव किया जाता है इसी तरह उन नारकी जीवोंको भी मारकाट आदि तो निरन्तर एकसी नहीं रहती है, और ज्यादा हो गई तो कम तो होगी ही। जब मारकाट कम हो गई तो समझ लो कि उनको साता वेदनीयका फल मिलता है।

जो ससारकी परिस्थितियोंका जाननहार है— ऐसा ज्ञानी पुरुष कर्मफलको भोगता हुआ भी रागी द्वेषी नहीं होता और वह जीव फिर कर्मोंको नहीं बाधता है, और नये कर्मोंका बध न होनेसे पुराने कर्मोंकी निर्जरा ही होती है क्योंकि जहा नवीन कर्म न बधे, वहा स्वभावतः पुराने कर्म झड़ जायेंगे। कर्मोंका झड़ना और नवीन कर्मोंका न आना— इन दोनोंका उपाय ज्ञान है और उस ज्ञान भावमें ये दोनों सामर्थ्य हैं कि नवीन कर्म न बधें और पुराने कर्म खिर जाएं।

अब ऐसी बात सुनकर प्रभाकर भट्ट पूछते हैं कि कर्मोंके उदयके फल को भोगता हुआ भी ज्ञानी पुरुष कर्मोंसे नहीं बधता। ऐसा जो आप कह

रहे हो- ऐसी बात, ऐसी मति सांख्यादिक मानते हैं कि कर्मोंके फलको भोग कर भी प्रकृतिपुरुषका विवेक करने वाला ज्ञानी बधता नहीं। उन्हें दूषण क्यों देते हो? यह बात तो सांख्य आदिक भी कहते हैं। उत्तरमें कहा जा रहा है कि सांख्य आदिक चारित्रकी अपेक्षा न रखकर सिर्फ ज्ञानमात्रको ही मोक्ष कहते हैं या कर्मोंसे छूटना कहते हैं। इसलिए उनको दूषण कहते हैं। पर यहां तो आत्मज्ञानसे सहित वीतराग चारित्रमें रत होता हुआ ज्ञानी जीव कर्मोंसे नहीं बधता है, यह कहा जाता है। इसलिए उन सांख्यके निश्चारित्र ज्ञानमें और जैनसिद्धान्तके इस चारित्र सहित ज्ञानमें अन्तर हो गया ना, और ज्ञान वास्तविक ऊंची स्थितिको प्राप्त उसे ही कहलाता है जो चारित्र सहित हो। जैसे कि लोकमें ज्ञानकी बात कहने वाला जो चारित्रशून्य है तो उस की शोभा नहीं होती। इसी तरह परमार्थमें ज्ञानकी बात कहने वाला यदि चारित्रसे रहित है तो उसको कर्मबंधसे छुटकारेमें अन्तर नहीं होता है, उसे ज्ञान ही नहीं कहा है। वह ज्ञान कैसा जो ज्ञान कषायमें लगावे। ज्ञानका फल तो कषायसे अलग करना है। ऐसा चारित्रसहित ज्ञान कर्मके बधको नहीं करता है।

अब यह बतला रहे है कि जितने काल अणुमात्र भी यह जीव राग को नहीं छोड़ता, उतने काल यह जीव कर्मोंसे नहीं छूट सकता। जब तक वह राग न छोड़ेगा तब तक कर्मोंसे नहीं छूट सकता।

जो अणुमेत्तुवि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु।
सो णवि मुञ्चइ ताम जिय जाणतु वि परमत्थु॥ ८१॥

जो जीव अणुमात्र भी अर्थात् सूक्ष्म भी रागको नहीं छोड़ता है वह जीव कर्मोंसे नहीं छूटता। इस रागका स्वभाव आत्माके स्वरूपसे विपरीत है। आत्मा तो रागद्वेषरहित शुद्ध आनन्दमय एक शुद्ध आत्मस्वरूप है। और यह राग पंचेन्द्रियके विषयके सुखकी अभिलाषारूप राग इस आत्माके स्वभावसे विपरीत चीज है। जब तक इस रागको नहीं छोड़ता तब तक इस जगत्में यह जीव कर्मोंसे छुटकारा नहीं पाता है चाहे वह परमार्थको जान भी रहा हो, लेकिन राग न छोड़े तो कर्मोंसे नहीं छूटता। वास्तवमें वह जान नहीं रहा है परमार्थको किन्तु शब्दमात्रसे कह रहा है। जब रागद्वेष-रहित जीवकी वृत्ति हो तो समझो कि अब यह जान रहा है।

इस प्रसंगका एक उदाहरण है- एक मनुष्य अपने बच्चोंको गुड़ छुडाना चाहता है क्योंकि गुड़ ज्यादा खानेसे पेटका रोग बढ़ता है, दांतोंमें कीडे लग जाते हैं, फैफडे भी कमजोर हो जाते हैं, उसने एक फकीरसे कहा कि हमारे बच्चोंका गुड़ खाना छुटा दीजिए। वह फकीर बोला कि हम १०-१५

दिनके बादमें बच्चोंको गुड़ छुड़ानेको कहेंगे। कारण क्या था कि फकीर खुद गुड़ खाता था। जो खुद खाये वह दूसरोंको कैसे छुड़ा सके ? सो पहिले खुद गुडका त्याग किया, बादमें बच्चोंको गुड त्यागनेको कहा। यदि खुद अनुष्ठान न करे और दूसरेको करनेको कहे तो उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान वही है जो अनादि सिद्ध आत्मतत्त्वका परिचय कर रहा हो। मैं सबसे विलक्षण एक ज्ञानस्वभाव मात्र हू– ऐसा जहा परिचयमें आ रहा हो उसे ज्ञान कहते हैं। और ऐसा परिचय यदि न किया जा रहा हो किन्तु शब्दमात्रसे बताया जा रहा हो, वह वास्तवमें ज्ञान नहीं है। ऐसेशब्दज्ञानको करता हुआ भी पुरुष यदि रागको नहीं छोडता है, थोडे भी रागको नहीं छोड़ता है, वह पुरुष कर्मोंसे मुक्त नहीं हो सकता।

भैया ! इस दोहेमे यह बताया गया है कि निज शुद्ध आत्मस्वभावका ज्ञान होने पर भी जब तक शुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप वीतराग चारित्रकी भावना नहीं होती, शुद्ध आत्माको अनुभवमे लेनेका अनुष्ठान नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं हो सकता है। अब यह बतला रहे हैं कि निर्विकल्प आत्माकी भावनासे रहित पुरुष शास्त्रको पढता हो तो भी, तपस्या करता हो तो भी परमार्थको नहीं जानता है।

बुज्झइ सत्थइ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ।
ताव ण मुचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ॥ ८२॥

शास्त्रको जो जानता हो, और इतना ही नहीं किन्तु तपस्याको भी करता हो तो भी यदि परमार्थ शुद्ध आत्मतत्त्वको नहीं जानता है तो वह पुरुष ज्ञानी नहीं है, वह पुरुष कर्मोंसे नहीं छूट सकता है, क्योंकि बध तो है अविवेकसे। तो छूटना विवेकसे ही बनेगा। परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि करनेसे बध बना है तो बंध छूटनेका उपाय परको जान जाय और निजको निज जान जाय और ऐसा ही अपना अनुभव बनाए तो कर्मोंसे छूटनेका उपाय पा सकता है, किन्तु नहीं जानता है यह जीव परमार्थको। यह व्यवहारसे परमात्मतत्त्वके प्रतिपादन करने वाले शास्त्रके द्वारा जानता है, पर निश्चयसे तो वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानके द्वारा ही जानना बनता है तो वीतराग स्वसम्वेदन नहीं हो रहा है याने अपने आपको ज्ञानमात्र रूपमें नहीं पा रहा है, इसलिए कर्मोंसे नहीं छूट सकता।

यद्यपि यह धर्मव्यामोही जीव अनशन आदिक १२ प्रकारकी तपस्यावोको करता है जो कि बहिरंग सहकारी कारण है, तो भी निश्चयसे उसके निज शुद्ध आत्माका अनुष्ठान नहीं चल रहा है। वह तो निर्विकल्प शुद्ध आत्माके उपयोग भी बसाये तो वहा जो वीतराग चारित्र होता है, उस चारित्र

द्वारा ही साध्य है अपनी आत्माकी उपलब्धि। सो जब तक आत्मा आत्मा में निरन्तर स्थिर नहीं रह सकता तब तक यह कर्मोंसे छूट नहीं सकता। जैसे दीपकके द्वारा कोई वस्तु देखकर ग्रहण की जाती है और उस वस्तुको ग्रहण करके फिर दीपक छोड़ दिया जाता है। कोई चीज ढूंढ रहे हैं तो टार्च या दिया हाथमें लेते हैं। ढूंढ ली और चीज हाथमें ले ली, फिर टार्च अलग धर देते हैं।

इसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रोंके द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्वको जान लें और ग्रहण करलें, फिर शास्त्रोंका विकल्प छोड़ दिया जाय, क्योंकि शास्त्रोंका प्रयोजन तो शुद्ध आत्मतत्त्वके जानने तक का था। जान गए तो अब शास्त्रोंका विकल्प छोड़ दिया जाता है। जैसे मथनी से दही मथनेका प्रयोजन घी निकालने तक है। अब मक्खन निकल आया तो मक्खन निकल आनेके बाद उसका बिलौना बन्द कर दिया जाता है, इसी प्रकार शास्त्रोंके मथनेका प्रयोजन शुद्ध आत्मतत्त्वके जानने और ग्रहण कराने तकका है, और जब शुद्ध आत्मतत्त्वका परिज्ञान हो ले, फिर तो उस आत्मतत्त्वका अनुभव करना चाहिए, न कि शास्त्रोंके विकल्पमें उलझना चाहिए।

यह जीव शास्त्रको जानकर भी, पढ़कर भी, तपस्या करके भी यदि निर्विकल्प आत्माकी भावनासे रहित है तो वह पुरुष परमार्थ निज ज्ञान-स्वभावको नहीं जान पाता है। और जब तक अपने ज्ञानस्वभावके अनुभव में नहीं आ पाता जीव तब तक भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों प्रकारके कर्मों से छूट नहीं सकता। भावकर्मसे नहीं छूटना, इसका तात्पर्य यह है कि वह अपनेमें कुछ न कुछ काम किये जानेकी धुन बनाए रहता है, और द्रव्यकर्म से नहीं छूटता, इसका अर्थ यह है कि पौद्गलिक जो ज्ञानावरणादिक हैं, जिन्होने इस जीवको अज्ञानमें बाध रखा था, उन कर्मोंसे नहीं छूटसकता। सो अपने आपमें यह परख करलो कि हमें शुद्ध आत्मतत्त्वके जाननेकी कितनी लगन है और परिवारजनोंमें रहनेकी कितनी लगन है, निज शुद्ध आत्मस्वरूपके परिचयमें कितनी लगन है या धन वैभवमें कितनी लगन है ? लगन धनमें है, मोहमें है, रागमें है तो शास्त्रकी बातें बोलकर भी यह जीव कर्मोंसे छूटनेका मार्ग नहीं पा सकता है। इसके लिए तो प्रैक्टिकल वैराग्य चाहिए।

भैया ! कोई रागरहित शुद्ध आत्माकी भावनामें है कि मैं रागरहित हू, मेरा स्वरूप ज्ञायक भाव है, जाननमात्र ही मेरी सहज सत्ता है, एतावन्-मात्र ही मैं हू, ऐसा अनुभव यदि चल रहा है तो वह परमार्थका ज्ञाता है,

और यह अनुभव नहीं है, पर्यायबुद्धि है तो धर्मकी धुनिमें व्रत भी करे, तप भी करे, पूजा पाठ, भक्ति करे पर अपने आपको निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानमात्र लक्ष्यमें नहीं लेता है तो वह जीव परमार्थका ज्ञाता नहीं कहा जा सकता है। जो परमार्थका ज्ञाता नहीं है वह कर्मोंसे नहीं छूट सकता। इसलिए अनेक प्रयत्नोंसे अपने आपको ऐसा अनुभव करो कि मैं द्रव्यकर्म, भावकर्म, शरीरादिक नोकर्म या परिग्रह– इन सबसे जुदा हूं, केवल ज्ञानमात्र हूं, ऐसे अनुभव में वह सामर्थ्य है कि यह जीव कर्मोंसे छूट सकता है।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जो शास्त्रोंको पढ़ता हुआ भी विकल्पोंको नहीं छोड़ता है, निश्चयसे देहमें रहने वाले शुद्ध आत्माको नहीं मानता वह तो जड़ है, जड़ है।

सत्थु पढ़ंतुवि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमत्थु ॥ ८३ ॥

शास्त्रोंको पढ़ता हुआ भी जो विकल्पोंको दूर नहीं करता है, जो देहमें वसते हुए भी निर्मल परमात्माको नहीं मानता है उसे जड़ कहना चाहिए। शास्त्रोंके पढ़नेका फल तो यह है कि रागादिक विकल्परहित निज शुद्ध आत्मस्वभावका अनुभव करे और उस स्वभावके शत्रु, जो मिथ्यात्व रागादिक विकल्प हैं उनका विनाश करे। सो जो न तो विकल्पको नष्ट करता है और न देहमें वसे हुए भी निर्मल कर्ममलरहित परमात्मतत्त्वकी श्रद्धा करता है उस पुरुषको जड़ ही कहना चाहिए। जड़ नहीं हो सकता है किन्तु बेहोश है, अचेत है। इस वर्णनको सुनकर अपना क्या कर्तव्य है कि मन, वचन, कायको गुप्त करके समतापरिणाममें रहकर स्वयं जो ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्व है उसकी भावना करनी चाहिए।

भैया! जिस समय तीनों गुप्तियोंसे सुरक्षित समतापरिणाम जब करनेमें नहीं आता है तब क्या करना चाहिए? शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना का स्मरण दृढ करनेके लिए और परपदार्थोंका परत्व, भिन्नत्वके ज्ञानकी वृद्धि करनेके लिए और विषयकषायोंसे दूर होनेके लिए इस ही शुद्ध आत्मस्वरूपका कथन करना चाहिए, किन्तु उस कथनमें भी दूसरोंको समझानेके बहानेसे अपने ही जीवको सम्बोधना चाहिए। धर्मोपदेश नामका भी स्वाध्याय होता है, धर्मका उपदेश करना स्वाध्याय है और स्वाध्यायका अर्थ है स्वका अध्याय, स्वका मनन। तो धर्मोपदेश करते हुए यदि स्वका मनन किया जा सकता है तो वह स्वाध्याय है, और उपदेश देते हुए लोग मुझे यों जान जायें यों समझ जायें अथवा ऐसा ही क्यों नहीं समझते हैं– इन बातोंका ध्यान रहे तो वह स्वाध्याय नहीं है। दूसरेको समझाते हुए मैं मुख्य

वृत्ति यह रहनी चाहिए कि मै अपने को कह रहा हू। जहां यह बात कही जा रही हो कि विषयकषायों से दूर हटो, किसी रूपमें दूसरेको कुछ बताया जा रहा हो, वहा अपने आपमे उन सब बातों को लगाना चाहिए, क्योंकि जो मार्ग दूसरोंको छुड़ानेके लिए कहा जा रहा हो उस मार्गमे स्वयको कैसे चलना चाहिए? ऐसी बात पर ध्यान देना चाहिए कि जो दूसरो को करने को बात कही जा रही है वह खुदके करने के लायक भी बात है या नहीं।

धर्मोपदेशमें भी मुख्य प्रयोजन अपनी ही सभाल होती है। दूसरे जीवों को जो कर्तव्य बताया जाता है तो क्या उस कर्तव्यको हम दूसरोंसे करा सकते हैं? करानेकी बात तो दूर जाने दो, हम उसका ज्ञान तक भी दूसरे के लिए नहीं बना सकते हैं। दूसरे जानेंगे तो अपने ज्ञानगुणकी क्रिया से जानेंगे, समझानेको क्रियावोंसे न जानेंगे। फिर यह भी तो जरा सोचो कि दूसरे जीव जिनको सुना रहे हैं वे यदि यह समझते हो कि वक्ता जो कुछ बोल रहा है या जो उपदेश कर रहा है, सो परजीवोंको ही ऐसा उपदेश कर रहा है, स्वयमें कुछ नहीं कर रहा है– ऐसी बात यदि दूसरे लोग समझते हों, ऐसा वक्ता जाने तो क्या इस वक्ताको भला लगेगा? नहीं लगेगा। तब फिर वक्ता भी अपने आपमे ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्ति करने लगे, जिस प्रवृत्ति और निवृत्तिका उपदेश परजीवोंको दिया जा रहा है। शास्त्रअभ्यास करनेका फल तो रागादिक विकल्पोका तोड़ना है। रागादिक विकल्पोंके तोड़ने का उपाय रागादिकरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अवलोकन करना है। इस कारण जितना भी अधिकसे अधिक यत्न हो सके, रागादिक विकल्प-रहित शुद्ध आत्मतत्त्वके अनुभवनका होना चाहिए।

अब यह बात बतलाते हैं कि ज्ञानके लिए शास्त्रोंको पढ़ते हुए भी जिसके विशुद्ध आत्माकी प्रतीतिरूप बोध नहीं होता वह पुरुष मूढ होता है।

बोहणिमित्तें सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु।
तेणवि बोहु ण जासु वरु सो किं मुढु ण तत्थु ॥ ॥८४॥

इस लोकमें ज्ञानके अर्थशास्त्र पढ़े जाते हैं, पर शास्त्रों के पढ़नेसे भी जिसको उत्तम बोध नहीं होता है या स्वात्मज्ञान नहीं होता है वह क्या मूढ नहीं है? यह बात तथ्यकी है, इसमें कोई सदेह नहीं है। शब्दोंका बोझ लादने वाला पुरुष भी जो आत्मज्ञानसे वचित है वह मूढ़ ही है। "भगवती आराधनासार" में एक दृष्टात दिया गया है कि जैसे गधे पर चदनका बोझ लदा हुआ है और वह शहरमे सड़कसे गुजरता है तो उस चदनसे महक दूसरे मुसाफिरोंको देता जाता है, मगर गधे को चदनकी महकका अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार बडे ऊचे शास्त्रोंका ज्ञान करके उस ज्ञानका जो

प्रतिपादन करते हैं, उन ज्ञानकी किरणोंसे दूसरों को लाभ पहुच जाता है पर इस शब्दज्ञानके भारसे लदे हुए इस शब्दज्ञानी को कुछ लाभ नहीं हो पा रहा है।

भैया! शास्त्रज्ञानका लाभ तब है जब आत्मज्ञान करले। यद्यपि लोकव्यवहारमें शास्त्रजनित ज्ञानको ज्ञान बोला जाता है। कविता करना, बड़े-बड़े शब्दोंमें से रहस्य निकालना, दूसरोंसे वाद विवाद करना, बड़ी देर तक व्याख्यान करते रहना आदिक ज्ञान शास्त्रज्ञान बिना कैसे हो सकता है? वह व्यवहारनयका ज्ञान तो कहा ही जाता है, निश्चयसे ज्ञान उसही को मानना चाहिए जो वीतराग स्वसम्वेदनरूप हो। रागद्वेषरहित आत्माका जो ज्ञानस्वभाव है उसके अनुभवरूप जो ज्ञानकी वर्तना है, ज्ञान वह ही है। ऐसा ज्ञान परमात्मप्रकाशक अध्यात्मशास्त्रोंसे उत्पन्न हुआ होता है। वह ही ज्ञान ग्राह्य है, अन्य ज्ञान ग्राह्य नहीं है। अन्य ज्ञान तो एक लौकिक जीवनके गुजारेके लिए हैं। यदि वीतराग स्वसम्वेदनरूप ज्ञान नहीं होता है तो उस ज्ञानके बिना शास्त्रोंके पढ़ लेने पर भी यह पुरुष मूढ़ कहलाता है।

यदि कोई पुरुष परमात्मस्वरूपके बोधको उत्पन्न करने वाले थोड़ेसे शास्त्रों को जानकर भी वीतराग ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वकी भावनाको करता है तो वह सिद्धिको प्राप्त करता है। जो जीव रागरहित शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव करते हैं, वैराग्यमें लगे हैं, मोह शत्रु को जीतने वाले हैं वे थोडे शास्त्रोंको पढ़कर सुधर जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं, किन्तु वैराग्यके बिना रागरहित शुद्ध निज ज्ञायकस्वरूपके अनुभवके बिना सब शास्त्रोंको पढ़ते हुए भी शब्दज्ञानी पुरुष मुक्त नहीं हो सकता है, यह निश्चय जानो। यह बात एक अपेक्षासे कही गई है। इसमें यह भाव नहीं लेना कि बहुतसे शास्त्रोंको पढ़ना दूषण है। शास्त्र अनेक पढ़िये, पर यह लक्ष्यमें रखना कि शास्त्रोंके अध्ययनका फल निजआत्मतत्त्वका अनुभव होना चाहिए।

जो शास्त्रोंके अक्षरोंको बता रहा हो, किन्तु आत्मामें चित्त न लगाता हो उसको ऐसा जानना कि जैसे चावलरहित भूसेका ढेर इकट्ठा कर लिया हो तो वह भूसेका ढेर किस कामका है? उस भूसेमें तो चावल नहीं हैं। चावल निकल गए, केवल भूसा रह गया तो रूप रंग केवल धानकी ही तरह है लेकिन निःसार है। उस भुसके ढेर करनेसे क्या लाभ है? इसी तरह गृहस्थ भी ज्ञानी है। उन सब ज्ञानोंमें सारभूत ज्ञान तो आत्मतत्त्वका बोध है। आत्मतत्त्वका बोध न हो तो वह समस्त ज्ञान ऐसा है जैसे चावलोंसे रहित छिलका पड़ा हो। ऐसा समझकर बहुत बडे शास्त्रज्ञानियोंको दूषण

नहीं देना चाहिए, उनकी निन्दा नहीं करना चाहिए और जो बहुश्रुत हैं, बडे शास्त्रज्ञानी हैं, उनको अल्पशास्त्रज्ञोंकी निन्दा न करनी चाहिए।

उक्त जो यह कथन बताया है कि आत्मज्ञान जिस ज्ञानीमें नहीं बसा हुआ है तो बहुतसे शास्त्रोंका ज्ञान भी उसे हो जाये, फिर भी व्यर्थ है। इस कथनसे दोनोंमे लाभ की बात निकालनी चाहिए। जो बहुत अधिक शास्त्रज्ञाता हैं उन्हें तो यह शिक्षा लेनी है कि हम अल्पज्ञानियोंकी निन्दा न करें। वह अल्पशास्त्रज्ञ यदि ज्ञानके फलभूत आत्मतत्त्वका परिचयी होता है तो वह इससे ऊचा है, ऐसा बहुशास्त्रज्ञोंको मानना चाहिए और अल्पशास्त्रज्ञोंको उसका दूषण नहीं देना चाहिए। बहुत अधिक ज्ञान होनेकी परिस्थितिमे प्रयोजनभूत तत्त्वका ज्ञान निर्मलरूपसे पाया जा सकता है। पुरुपार्थ तो ज्ञानके लिए यह ही है कि हम अधिकसे अधिक शास्त्रोंको पढें, जाने, रहस्य को समझें, इसलिए बहुशास्त्रज्ञोंको कुछ भी दूषण नहीं देना है। परके दोष ग्रहण करने से तो रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है और रागद्वेषके उत्पन्न होने से ज्ञान और तपका विनाश होता है। इसलिए दूसरोंके दोषोंको मत ग्रहण करो।

इस प्रकरणमे यह तत्त्व बताया गया है कि ज्ञानके शास्त्रोंके अभ्यास का फल निजज्ञानस्वभावी परमात्मतत्त्व का परिचय कर लेना है। यदि यह परिचय कर सके तो अपने शास्त्रज्ञानको सफल समझे अन्यथा शास्त्रज्ञानसे इसने कुछ भी लाभ न उठा पाया। अब यह बतलाते हैं कि रागद्वेषरहित निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके ज्ञानसे रहित जो पुरुष हैं, उनको तीर्थ भ्रमणसे भी मोक्ष नहीं होता है।

तित्थइ तित्थ भमंताहँ मूढहँ मोक्खु ण होइ।
णाणविवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥८५॥

वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानसे रहित जीवको तीर्थ ही तीर्थ भ्रमण करने से भी मोक्ष नहीं है। तीर्थमें भ्रमण करते रहने वाले आत्मतत्त्वके अपरिचित मूढ पुरुषको मुक्ति नहीं होती है। हे जीव! जो ज्ञानविवर्जित है वह मुनिवर ही नहीं होता है। वास्तवमे तीर्थ क्या है जिस तीर्थकी सेवासे जन्म जन्मके अर्जित पाप कट जाते हैं वह तीर्थ है। व्यवहारसे वीतराग अरहंत सर्वज्ञ प्रभुका स्वरूप ही तीर्थ है, जिस स्वरूपकी सेवा करने से पाप कटते हैं और निश्चयसे है आत्माका सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप, जिसके परिचयसे जन्मजन्मके अर्जित कर्म दूर होते हैं।

अब वीतराग अरहत सर्वज्ञके स्वरूप पर थोड़ी दृष्टि दीजिए। वह स्वरूप कैसा है? इस स्वरूप के गंगा आदिक तीर्थसे तुलना कीजिए

अलंकार रूपमें। वैसे तो गंगा आदिकका जो जल है वह भी जलकायिक जीव है। आत्मामें पवित्रता ला सकने वाला कोई परपदार्थ नहीं हो सकता है। स्वयका परिणाम ही स्वयको अपवित्र बनाता है और स्वयंको पवित्र बनाता है। इस अरहन वीतराग सर्वज्ञदेवके स्वरूपमें जलतीर्थको देखिये कि काहे का तो वहा जल है और किस चीजका वहां वृक्षका तट है और वहा पक्षीगण भी कुछ बसा करते हैं। सो वहां बसने वाले कौन हैं? इस वीतराग सर्वज्ञस्वरूपमें निराला नीर है। निर्दोष परमात्मतत्त्वकी भावना से उत्पन्न वीतराग परमआह्लादरूप अथवा वीतराग परम अनाकुलताको भराने वाला जो सुन्दर आनन्द है उस सुन्दर आनन्दस्वरूप तो निर्मल जल है, उस जलके प्रवाहमें जो आनन्द झरा करता है उस आनन्दमें यह सामर्थ्य है कि जन्म-जन्मके अर्जित पाप कर्मोंको दूर हटा दे। ऐसा यह निर्मल तीर्थ है जहां शुद्ध आनन्दको भराने वाला परमभाव भरा हुआ है।

इस परमतीर्थके तट पर ज्ञान दर्शन आदिक गुणसमूहोंके वृक्ष शोभायमान हैं। जहा तीर्थयात्री भव्य जीव होते हैं, देवेन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर देव आदि भव्य जीव जिस तीर्थकी यात्रा किया करते हैं अर्थात् जो सर्वज्ञस्वरूप की उपासनामें लगे रहते हैं, उन तीर्थयात्रियोंके समूहके कानोंमें सुख उत्पन्न करने वाली दिव्यध्वनिरूप राजहस कोलाहलोंसे जो सुन्दर है, ऐसा वह निर्दोष परमात्मस्वरूप, वह तीर्थ तट है। जैसे गंगा आदिक तीर्थोंमें पक्षियों का कोलाहल हुआ करता है इसी प्रकार जहा वीतराग सर्वज्ञदेवका समवशरण बना हुआ हो उसे तीर्थ समझो, उसमें दिव्यध्वनि का कोलाहल है। जैसे नदी, समुद्रके तटों पर पक्षियोंका कोलाहल होता है तो व्यवहार परमतीर्थ अरहत भगवान्के समवशरणमें दिव्यध्वनिरूप राजहसोंका कोलाहल है, ऐसा जो वीतराग परमात्मप्रभुका स्वरूप है, वही वास्तवमें तीर्थ है; पर लोकव्यवहार में प्रसिद्ध नदी समुद्र वस्तुत तीर्थ नहीं है।

भैया! गगा को तीर्थ कहनेका एक मूल कारण यह भी है कि हिमवान पर्वतसे जो गगा नदी निकली है तो उस हिमवान पर्वत से गिरते हुए में जो नीचे कुण्ड बना हुआ है उस कुण्डके बीचमें एक अकृत्रिम खुला जैसा अकृत्रिम जिनमदिर है, वहां अरहंतदेवकी महिमा शाश्वत विराजमान है। हिमवान् पर्वतसे निकली हुई गगाका प्रवाह है वह प्रवाह पहिले उस प्रतिबिम्ब पर पड़ता है और वहासे फिर जो प्रवाह चला वह प्रवाह मानो गंधोदक बन गया। इस प्रकार गगा का वह जल पवित्र माना जाता है। वह गगा यह गगा नहीं है। वह अकृत्रिम रचनामें है। यह जल घट जाये बढ जाये, सूख जाये। अपना स्थान छोड़ दे। जहा नदी बह रही है वहा कहीं टीला निकल

आये। जहा टीला है वहां कहीं नदी चल बैठे। इसमें विचित्र बात होती है पर उस गगा नदीमे यह कोई परिवर्तन ही नहीं होता है। वहां मणियोंके पत्थर के बडे मजबूत तट हैं। इसका भी नाम गगा है। सो इस नामकी समतासे लोकव्यवहारमे गगा नदीकी पूज्यता है।

भैया! थोडी इस गगाजलमे विलक्षणता भी है कि इसका जल शीशी में भरे रहो तो बहुत दिनों तक सड़ता नहीं है। इसका कारण एक वैज्ञानिक है कि ऐसे पर्वतोंसे गगा निकली है जहा जलका ऐसी जड़ी बूटियोंसे, धातुवों से स्पर्श होता है कि उस जलमें बहुत काल तक कीडे नहीं पड़ सकते हैं। वैसे तो किसी शीशीमें थोडा जल भर लो तो कीडे नहीं पडते– क्योंकि बंद रखे रहते हैं और थोड़े प्रमाणमें वह पानी है। खुला हुआ पानी हो और बहुत प्रमाणमें पानी हो तो उसमे कीड़ा पड़नेका अवसर होता है। सो पहिली बात तो यह है कि थोडा जल और शीशीमे भर लिया और मुंह बद कर लिया, इसलिए कहींका पानी हो उसमें कीडे देरसे पड़ते हैं। और फिर बूटी और धातुवो वाले पर्वतोंसे निकली हुई नदीका जल और शीशीमें थोड़ा भरा हो और ढक्कनसे टाईट किया हुआ है इसलिए बहुत काल तक कीडे नहीं पड़ते, किन्तु हे आत्मन्! तू अपने अन्तरमें तो देख। मलिनता है तो तेरे अन्तरमे है और पवित्रता बनेगी तो तेरेसे बनेगी। तेरे अन्तरकी पवित्रताको बनाने वाला कोई अन्य पदार्थ नहीं हो सकता। सो व्यवहारसे तीर्थ वीतराग सर्वज्ञदेवका स्वरूप है और परम निश्चयनयसे प्रभु परम तीर्थ के सदृश जो निज शुद्ध आत्मतत्त्व है उसका स्मरण अनुभव ही तीर्थ है। यह ही तीर्थ ससारसे तारनेके उपायका कारण है।

संसारसे तिरनेके उपायके कारणभूत होनेसे वीतराग निर्विकल्प परम समाधिमें रत पुरुषको वास्तविक निज शुद्ध ज्ञानस्वरूपका स्मरण ही तीर्थ है और व्यवहारसे तीर्थंकर परम देव आदिके गुणोंका स्मरण कारण हैं। मुख्यवृत्तिसे तो वीतराग सर्वज्ञदेवका स्मरण पुण्यबधका कारण है और ये निर्वाण आदिक जो तीर्थ हैं वे भी मुख्यवृत्तिसे पुण्यबधके कारण है। मुक्ति का कारणभूत निज तीर्थ रत्नत्रयरूप स्वयका परिणमन है। सो निश्चय तीर्थका जिसे श्रद्धान् नही है, परिज्ञान नहीं है, और उस निश्चय तीर्थके अभ्यासकी अपनी प्रवृत्ति नहीं बनाता है, ऐसे अज्ञानी जीवोंके लिए शेप समस्त तीर्थ मुक्तिके कारण नहीं हो सकते हैं।

सो इस दोहेमें बताया है कि रागद्वेषरहित आत्मसम्वेदनके विना पुरुष नाना तीर्थोंमें भी भ्रमण करे तो उस तीर्थभ्रमणसे भी मोक्ष नहीं होता। जिस आत्मज्ञानके विना तीर्थ-तीर्थमें भटकते हुए भी मोक्ष नहीं होता

है, वह आत्मज्ञान ही भव्य जीवको उपादेय है।

ज्ञानी और अज्ञानी मुनियोंमें अब अन्तर दिखाते हैं।

णाणिहिं मूढहिं मुणिवरहँ अतरू होइ महतु।
देहुवि मिल्लइ णाणियउ जीवहँ भिण्णुमुणंतु ॥ ८६ ॥

ज्ञानी और मूढ मुनिवरोंमें महान् अन्तर है। ज्ञानी मुनि तो शरीर को भी जीवसे भिन्न मानकर छोड़ देता है याने ममत्व त्याग देता है। यहां मूढ़ शब्द बहुत उपयुक्त शब्द है। यह गाली भरा शब्द नहीं है। मूढ मायने पर्यायके मोही मुह् धातुसे मुढ बनता है। ज्ञानी मुनियोंमें और पर्यायमुग्ध मुनियोंमें बड़ा अन्तर है। ऐसा कहनेमें जरा कम गाली मालूम होती है। ज्ञानी और मूढ़ मुनियोंमें महान् अन्तर है। ऐसा कहनेसे कोई मुनि बुरा मान जायगा। मूढ़ शब्द कठिन शब्द है, पर अर्थ उसका पर्यायमुग्ध है। जो जीव अपनी पर्यायके मोही हैं अर्थात् जो पर्याय प्राप्त हुई, जो अवस्था मिली उस अवस्थाको ही जो आत्मस्वरूप मानता है, उसे पर्यायमुग्ध कहते हैं। इसमें और आत्मज्ञानीमें महान् अन्तर है। अज्ञानी मुनि जिन्हें शरीरसे भिन्न सहज ज्ञानस्वभावमय निज आत्मतत्त्वका अनुभव नहीं हुआ वह मानता तो है अपने आपको, और कहते भी यही हैं कि आत्मा शरीरसे न्यारा है, और बहुत कुछ ऐसा परिचय भी उसने पाया कि जीव शरीरको छोड़कर चला जाता है, तो शरीर न्यारा है और जीव न्यारा है। ऐसा कहते भी हैं, कुछ कुछ ऐसा समझते भी हैं; पर यह जीव स्वरसत शुद्ध ज्ञायक भावमय है— ऐसा उनका ज्ञान ग्रहण नहीं कर पाता है।

जिसके ज्ञानने अपने सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव नहीं किया वह जिस किसीको भी "मैं" माने, उस "मैं" में अहङ्कार रहता है। वह समितिका पालन करे तो मैं मुनि हूं, मुनिका कर्तव्य है कि जीवों पर दया करे, यों पर्यायबुद्धिसे करते हैं। काम करते हैं सब ठीक। व्यावहारिक जीव दया पालें, झूठ न बोलें, चोरीका सर्वथा त्याग करें, ब्रह्मचर्य रखें, परिग्रह का भी त्याग रखें, अपनी सब क्रियावोंमें सावधान रहें, पर मैं मुनि हूं, मेरा यह कर्तव्य है, यह आशय बना हुआ है। यह भाव नहीं है अन्तरमें कि मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं और ज्ञानमात्र रह जाना यही मेरा कर्तव्य है, ऐसी उनके अन्तरमें वृत्ति नहीं उठती है, वे पर्यायमुग्ध हैं। मुनि होना भी तो एक पर्याय है। जो उस मुनित्व पर्यायमें मुग्ध हैं, वे सहज ज्ञानस्वरूपके रुचिया नहीं हो पाते हैं। ऐसे मूढ मुनिजनोंका पर्याय व्यामोह है। अज्ञानी व ज्ञानियोंमें महान् अन्तर है। ज्ञानी शब्दका अर्थ है— रागद्वेषरहित आत्मस्वरूपका सम्वेदन करने वाला।

भैया ! पहिले अनेक दोहोंमें यह बात आ चुकी है कि आत्मज्ञानसे बाहर जितना जो कुछ भी ज्ञान है वह ज्ञान नहीं है परमार्थसे। जिस ज्ञानके होने पर रागादिक बढ़ते हों वह ज्ञान ज्ञान नहीं है। रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपका जिन्हें सम्वेदन नहीं है, पर्यायमुग्ध हैं, ऐसे जीव मन्द कषाय करे और व्रत तपस्यादिक करे तो उनको मुक्तिका मार्ग नहीं मिल सकता। पुण्य बन्ध होता है तो उस पुण्यके उदयमे महान् पुरुषोंकी गोष्ठीमें जन्म भी हो सकता है। तो किसी कालमे आगे अथवा अवसरमे चेत जाय तो वहांसे उसके फलका प्रारम्भ होता है। अव्रतकी अपेक्षा व्रत तो अच्छा ही है। अशुभसे शुभ तो अच्छा ही है, पर शुद्धका जो प्रयोजन है, कार्य है उसको शुभ कर नहीं कर सकता है। तो वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानी पुरुष पुत्र, स्त्री आदिक बाहरी द्रव्योंसे भिन्न अपनेको जानता है, यह तो बहुत दूरकी बात है। जानना ही है उसमे तो शक क्या ? छोटे पुरुष भी जानते हैं पर इस देहको भी भिन्न अनुभव करले, ऐसा प्रताप ज्ञानी पुरुषका ही है।

इस देहको किससे भिन्न जाने ? शुद्ध बुद्ध एकस्वभावी निज शुद्ध आत्मस्वरूपसे अपनी देहको भिन्न जाने और उसकी ममता छोड़े। यह बात तो है ज्ञानी मुनिवरोंमें और मूढ़ मुनिजनोंमें अर्थात् पर्यायमुग्ध मुनिजनोंमें बस मुनित्वके नाते सर्वक्रियाकाडोंमें व्यामोह बना रहना या दूसरे शब्दोंमे कहें तो देहका ही ममत्व है, पर्यायके ममत्वमें ही उसकी सभी क्रियाए हो रही हैं। परमार्थसे शुद्धोपयोगशून्य पुरुषकी क्रियावोंको शुभ नहीं कहते हैं; पर मन्दकषायका सम्बन्ध होनेसे उस सम्बन्धकी क्रियावोंको शुभ कहा जाता है। मूढ आत्मा इस देहको स्वीकार करता है, देहकी ममताको करता है। मै मुनि हूं, इसलिए शत्रु पर द्वेष न करना चाहिए, इस आशयसे शत्रु पर द्वेष नहीं करता, कोल्हूमे शत्रु पेले तो भी शत्रु पर द्वेष दृष्टि नहीं रखता। पर मैं मुनि हू, इस नातेसे उसकी यह समता मुक्तिके मार्गको नहीं दिला पाती है। अटक है उसे पर्यायमें। यह सब पर्यायकी ममताका नृत्य है।

इस प्रकार यहा तक वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानकी महिमा बताई गई है। अब आगे परिग्रहके त्यागकी मुख्यतासे कुछ दोहोंका प्रारम्भ हो रहा है :—

लेणहं इच्छइ मूढु पर भुवणुवि एहु असेसु।
बहुविहधम्ममिसेण जिय दोहिंवि एहु विसेसु ॥ ८७॥

ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनोंमे इतना ही भेद है कि अज्ञानी जन तो अनेक प्रकारके धर्मके बहानेसे इस समस्त जगत्को ही लेनेकी इच्छा करता है अर्थात् सब ससारके भोगोंकी इच्छा करता है और ज्ञानी सबसे निवृत्त

होना चाहता है। जिसे सहज ज्ञानस्वरूपका, ज्ञानानुभूतिका परिचय नहीं होता वह धर्म करता हुआ मोक्षका ध्येय भी रखे, पर मोक्षका स्वरूप जानकर मोक्षका ध्येय नहीं रख पाता। जाना है, आगममें लिखा हुआ पढा है, सुना है कि मोक्ष उत्तम चीज है, वहा अनन्त सुख है, केवलज्ञान है, सारे विश्व का जाननहार बन जाता है। यह सब महिमा जानकर उसके लाभ के उद्देश्यसे धर्मकार्य करता है। वह मोक्ष सुखको भी इस भोज सुख की कोटिमें रख लेता है। हालाकि उस जाने हुए मोक्ष सुखके लिए परिग्रहका त्याग करे, भोगका त्याग करे और ऐसा भोग मिलता है। मोक्षमें ऐसी कल्पना भी नहीं रखता, किन्तु सहज आनन्दस्वरूप ज्ञानमात्र शुद्ध स्वाभाविक परिणतियुक्त मोक्षतत्त्वकी कल्पना इसके चित्तमें नहीं है, किन्तु सर्वविश्वको जान लिया जाता है, अनन्त बल प्रकट होता है, अनन्त सुख होता है। इस प्रकार उन शब्दोंके रूपमें भी न जाने क्रियात्मक मोक्षको वह मानता है और उस मोक्षकी प्राप्तिके लिए महाव्रत, तपस्याए, सयम आदि धारण करता है।

भैया! एक ही कुञ्जी है जिसका अनुभव हुए बिना चारों ओर बहुत हिराफिरा जाय तो भी तत्त्व नहीं मिलता है। कहो बडे-बडे परिश्रम करके भी मनुष्योंको वह तत्त्व न मिले और पशु पक्षियोंको सहज ही किसी समय तत्त्व मिल जाय। अमूर्त ज्ञानमात्र ज्ञानप्रकाशमात्र प्रतिभासस्वरूप जहा विकल्पोंका नाम नहीं है ऐसे आत्मस्वरूपका जिसे परिचय है वह केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थितिको चाहता है, उसे इस जगतमे मोह नहीं है। अन्य किन्हीं भी पदार्थोंमें मुग्धता नहीं है। अज्ञानी जीवमें और ज्ञानी जीवमें यही विशेषता है। यह पर्यायका व्यामोह करने वाला मूढ आत्मा निश्चय रत्नत्रयस्वरूप आत्माको न जानता है, न मानता है, न उसमें रत रहना चाहता है, न उसकी भावना कर सकता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र जिसकी स्वाभाविक परिणति है ऐसे उस स्वभावको यह मढ नहीं जान सकता।

भैया! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र— ये तीन परिणतिया कुछ न्यारी न्यारी बातें नहीं हैं। आत्माके विकासके भेदको समझानेके लिए यथार्थ अनुरूप, जिसका कहीं व्यभिचार नहीं हो सकता, ऐसी व्यवस्था सहित आचार्य देवने समझाया है। प्रत्येक आत्मा एक है और उस प्रत्येक आत्मद्रव्यका स्वभाव एक है और उस प्रत्येक आत्मद्रव्यका प्रति समय पर्याय कुछ भी हो एक है। उस एकको कैसे समझा जाय? इसका प्रकाश करनेके लिए गुण-पर्यायकी व्यवस्थाओंसे आचार्य देवने बडी निर्बाध शैलीसे इसे समझाया है। भगवान सर्वज्ञदेवकी परम्परासे यह सब व्याख्यान अक्षुण्ण बना है। सर्व-

प्रथम हम सम्यग्दर्शनका स्वरूप समझ सकें इसके लिए लक्षण कहा गया है कि रागद्वेषरहित सहजानन्द एक सुखास्वादरूप निज शुद्धआत्मा ही उपादेय है, इस प्रकार रुचि करना सो सम्यग्दर्शन है। निजशुद्ध आत्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिको सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि रुचि चारित्रगुणकी पर्याय है। किसी ओर झुकाव हो, प्रेम हो, लगन हो यह सब चारित्रका ही परिणमन है। पर जिस समीचीनताके कारण शुद्धआत्मा ही उपादेय है, ऐसा जहा झुकाव होता है, उस समीचीनताको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसी लिए सम्यग्दर्शनका संक्षिप्तरूप है सम्यक्त्व, भलापन, समीचीनता।

इस जीवमें अनादिसे विपरीत अभिप्रायरूप महामलिनता चली आयी है और इस विकट महान् ससारविषवृक्षका मूल यह विपरीत अभिप्राय ही है। इसका झगडा कितना गहरा बन गया है कि देखो शरीरमें फसे हैं, जन्म होता है, मरण होता है, कैसी-कैसी पर्याय मिलती है, कीडा मकौडा बन जाता है, कैसी परिस्थिति हो गई है कि इसमें जीव बँधा फिर रहा है, चार सज्ञावोसे पीडित है, सक्लेश भी अनुभव करता है, कितना बडा झगडा है, पर इस झगडेकी जडको तो देखो कि क्या बात हुई सबसे पहिले कि जिसके बाद झगडेमें झगड़ा, झगडेमें झगडा बनते बनते इतना विकट झगड़ा बन चुका है। उस मूलपर दृष्टि दे और निर्णय करे तो इतना ही कहना होगा कि जीवने यह किया कि जो अपना नहीं है उसे आपा या अपना माना। अब इसमें किसीका कुछ बिगड़ा तो नहीं। कोई बड़ा ऊधम तो नहीं मचाया। अपने ही प्रदेशमें रहकर एक ऐसी कल्पना कर ली कि परवस्तुके प्रति यह मैं हू, इतनी सी बात पर जिसे कहते हैं बेचारा याने बड़ा सीधा हो कोई पुरुष और झगड़ा झासा कुछ न करता हो, उसके सीधेपनमें ही कोई दूसरे लोग सताने लगें तो कहते हैं इस बेचारे को इतना क्यों सताते हो? इस प्रभुने बेचारा बनकर केवल इतनी ही तो मूलमें बात बनाई कि यह मैं हू, यह मेरा है। इतना भर इसका प्रयत्न हुआ कि सारा जाल इसके ऊपर बिछ जाता है। तो सबसे मूल मलिनता विपरीत अभिप्राय है।

विपरीत अभिप्राय जब नहीं रहता तब ही कहते हैं समीचीनता। उसही का नाम सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शनको विधिरूपसे कहना मुश्किल है और निषेधरूपसे बताना सरल है। इसी कारण सम्यग्दर्शनको व्ययकी मुख्यतासे, सम्यग्ज्ञानको उत्पादकी मुख्यतासे और सम्यक्चारित्रको ध्रौव्यकी मुख्यतासे बताए जानेकी एक पद्धति है कि विपरीत अभिप्रायको दूर करके और पदार्थोंका सम्यक् निर्णय करके, फिर उस स्वरूपमें निश्चल ठहरना सो ही रत्नत्रय है। विपरीत अभिप्रायका व्यय होना यही है सम्यक्त्व पदार्थोंका

सम्यक् निर्णय किया, यह है सम्यग्ज्ञान और ऐसे आत्मामें निश्चलरूपसे ठहर गया, यह है सम्यक्चारित्र । तो ऐसा वीतराग सहज ज्ञानघन निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है— ऐसी रुचि होनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । और उस ही परमात्माका समस्त मिथ्यात्व रागादिक आश्रवोंसे पृथक्रूपसे ज्ञान करना, सो सम्यग्ज्ञान है । और आत्मामें रागादिकके परिहारके रूपसे निश्चल चित्तवृत्ति होना, सो सम्यक्चारित्र है । इस प्रकार निश्चय रत्नत्रयस्वरूपको और निश्चय रत्नत्रयात्मक निज आत्माको न रोचता हुआ, न जानता हुआ, न भावना करता हुआ यह मूढ़ आत्मा धर्मके बहानेसे समस्त जगत्को ग्रहण करनेकी इच्छा करता है । पर ज्ञानी पुरुष इन सबको त्यागनेकी इच्छा करता है ।

अब यह बतलाते हैं कि अज्ञानी जीव तो शिष्य बनाने आदिकी क्रियावोंसे, पुस्तक आदिकके उपकरणसे संतुष्ट होता है और ज्ञानी मुनि इन सब बातोंको बंधन हेतु जानकर इनमें लज्जा करता है ।

चेल्लाचेल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूढ़ णिभंतु ।
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधह हेउ मुणंतु ।। ८८ ।।

यह मूढ़ मुनि पर्याय व्यामुग्ध यति, शिष्य, आर्यिका, पुस्तक आदिकसे सतुष्ट होता है और इसमें अपना गौरव अनुभव करता है कि हमने ५०को दीक्षा दी, हमने इतनोंको दीक्षा दी, मेरे इतने-शिष्य हैं आदि रूपसे अपना गौरव मानता है, किन्तु ज्ञानीजन इन बाह्यपदार्थोंसे शरमाता है, क्योंकि इन सबको वह बंधका कारण जानता है । यह प्रवृत्ति शुभ प्रवृत्ति है और ये सब पुण्यबंधके कारण हैं । पूर्व दोहोंमें यह बताया गया कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निज शुद्ध आत्मस्वभावकी श्रद्धा न करते हुए विशिष्ट भेदज्ञानसे अपने शुद्ध तत्त्वको न जानता हुआ और ऐसी ही ज्ञानवृत्ति बनाकर अर्थात् वीतराग चारित्ररूपसे भावना न करता हुआ यह मूढ़ यति पुण्यबंधके कारणभूत जिनदीक्षा आदि शुभ अनुष्ठानोंसे अथवा बड़ी पुस्तक आदिक उपकरणोंसे सुसज्जित होकर अपनी आत्माके मुनित्वपर्यायके योग्य सब क्रियावोंको मुक्तिका कारण मानता है ।

भैया ! करना वही है, करता वही है, पर भीतरमें ज्ञानकी झलक हो जानेसे इतना अन्तर हो गया है कि ज्ञानी यति तो मोक्षके मार्गमें बढ़ता है और अज्ञानी यती बंधनमें बढ़ता है । जबकि अज्ञानी यति इन बाह्य बातोंसे तुष्ट होता है, तब वहां ज्ञानी पुरुष यह मानता है कि यह साक्षात् तो पुण्यबंधका कारण है । यह सब मानत्व परम्परया मुक्तिका कारण है । ये सब दीक्षा धन आदिक देना, यह निश्चयसे मुक्तिका कारण नहीं है । मुक्तिका

कारण तो शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा की वृत्ति है। ज्ञान है ज्ञानीके इस कारण वह तो इस बातको करता हुआ शरमाता है अथवा कोई पुरुष उनके बारेमें प्रशंसा करे कि इन महाराजका क्या कहना है ? इन्होंने पचासोंको दीक्षा दी है और इनके संगमें बीसों महाराज बसते हैं। ऐसी बातको सुन कर ज्ञानी यति अन्तरमें शरमाता है कि यह परकी बातें लपेटकर मानों गालियां दे रहा है, दोषी ठहरा रहा है कि उनकी परमें ऐसी व्यामोहबुद्धि है कि यह इन्हीं बातोंमें संतुष्ट रहा करता है। करनेकी बात तो सबकी है, ऐसा ही प्रताप कहा जायगा, पर अन्तरकी समझसे यह सारा अन्तर पड़ जाया करता है।

इस तरह इस परिग्रहके प्रकरणमें यह बतलाया गया है कि ज्ञानी मुनि इन समस्त परिग्रहोंसे संतुष्ट नहीं होता।

अब अगले दोहेमें यह बतला रहे हैं कि यह उपकरण शिष्य, चेला, चेली ये सब मुनियोंको मोह उत्पन्न कराकर उन्हें कुपथमें डाल देते हैं।

चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्लाचेल्लिय एहिं।
मोह जणेविणु मुणिवरहिं उप्पहि पाडिय तेहिं॥ ८६॥

पीछी, कमण्डल, पुस्तक, श्रावक, मुनि, आर्यिका– ये सब मुनियोंको मोह उत्पन्न कराकर उनको कुमार्गमें डाल देते हैं। पिछी संयमका उपकरण है, मगर सजाकर बढ़िया ठीकसे रखें तो वह मोहका कारण बनती है और पथभ्रष्ट कर देती है। कमण्डल सुन्दर, चिकना, कांतिमान हो, बढ़िया पालिशदार हो, सजा हुआ हो, ऐसा कमण्डल यदि रखा जाय तो वह उसे सम्यक्त्वसे भ्रष्ट कर देता है। भ्रष्ट तो अपने ही परिणमनसे होता है, मगर आश्रय उसका है। पुस्तकें बहुत बढ़िया कितनी साथमें रख लेवे, संग्रह करे तो पुस्तकका जो संग्रह है यह भी मार्गसे भ्रष्ट करा देता है। पुस्तकका उपकरण मुनियोंको बताया गया है किन्तु सैंकड़ों पुस्तकें रखें तो उनके लिए वाहन चाहिए, सवारी चाहिए, उन्हें ढोना है, उनकी चिन्ता होती है। तो वे परिग्रहका रूप रख लेती हैं। तब मोहको उत्पन्न कराकर कुपथमें डालती हैं।

इसी तरह शिष्य हों, मुनि अर्जिका हों, इनका जो संगमें समुदाय रहता है यह भी मोह उत्पन्न करानेका कारण होता है। और नहीं तो संग में बैठकर खुश रहना, प्रसन्न रहना, लोग दर्शनको आते हैं, संगके लोग खड़े हुए हैं, अहंकार कर रहे हैं, उस बीचमें गौरव समझकर बड़ा खुश दिमाग रहना यह भी क्या है ? निजस्वरूपको भूल गया। इस परम अध्यात्मतत्त्वके प्रकाशनके प्रकरणमें यह कहा जा रहा है कि इस परिग्रहके कारण वे मुनिवर

अपने पथसे भ्रष्ट हो जाते हैं। बिल्कुल निर्लेप आगे पीछेकी चिन्ता न हो, अपने वर्तमान समागमकी भी फिक्र न हो, केवल आत्मतत्त्वके चिन्तनमें ही उसकी गति चलती हो, ऐसे परिणाम वाला छठे, ७वें गुणस्थानमें झूलने वाला होता है अन्यथा तो महंतशाही है। अपनेको गौरवशाली अनुभव कर खुश रहना, अपना प्रताप जाहिर करना, ये सब मोहको उत्पन्न कराकर कुपथमें डालनेके कारण होते हैं।

भैया! जैसे किसीको अजीर्ण होनेका डर लगा हो, कहीं अजीर्ण न हो जाये, इस डरसे बढ़िया भोजनको त्याग दे और दवाई आधा सेर खाले तो उसे कोई विवेकी कहेगा क्या? बहुत गरिष्ट चीज मत खावो, अजीर्ण न हो जाय, इस ध्यानसे मिष्ठ आहारको तो छोड़ दिया और चासनीमें पका हुआ या मीठी लगने वाली दवा पाव भर या आधा सेर खा गया तो उसे कोई विवेकी नहीं कहेगा। उसने दवाईको अजीर्ण बना लिया। इसी प्रकार कोई तपस्वी, आज्ञाकारी स्त्री, पुत्र, कुटुम्बको छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करता है इसलिए कि मेरा इनमें दिल न हो जाय। और जिनदीक्षा ग्रहण करके नग्न दिगम्बर भी होकर पीछी, कमंडल, पुस्तक, शिष्य, चेला-चेलीमें मोह करने लगे तो यह ऐसा ही अविवेकी है जिसने अजीर्णके डरसे हलुवा पूड़ीका त्याग किया और मीठी दवाईको खा लिया। फर्क क्या हुआ? कहा तो आत्माका निरोग स्वभाव और कहा यह विकल्पजाल?

शुद्ध बुद्ध एक चैतन्यस्वभावमें निज शुद्ध आत्मतत्त्वका श्रद्धान् हो, ज्ञान हो और उस शुद्ध ज्ञानभावमें रत रहता हो, यही वास्तविक निरोगता है। सो उस निरोगताका तो अज्ञानी मुनिने ध्यान न रखा और जो समागम उन्हें मिला उसमें ही मोहको उत्पन्न करने लगा तो उसे अज्ञानी कहा जायगा, ज्ञानी तो नहीं कहा जा सकता है। याने मुनि संत बड़े उपद्रव उपसर्गके बीच रहकर भी विकल्प करना पसंद नहीं करते। ध्यान करते हुए में एक चींटी काटे तो कोई कहे कि उस चींटीको एक अगुलीसे हटा दो और पीछे निराकुल होकर ध्यान करो तो क्या हर्ज है? पर नहीं, वहा हर्ज है। एक ध्यानमें बैठा हुआ ज्ञानी पुरुष इस समयके इतने विकल्पको भी नहीं चाहता है कि मैं इस चींटीको हटा दू क्योंकि वर्तमानमें विकल्प बनाकर और भावीकालमें निर्विकल्प होनेकी आशा रखे तो यह नहीं हो सकता है।

जैसे कोई पुरुष ऐसा सोचे कि मैं अपनी जायदादको एक लाखकी बना लू और इतना किराया कर लू, इतनी सहूलियत कर लू, फिर सब कुछ छोड़कर धर्मके कार्यमें लगू गा। तो देखा होगा कि ऐसा बहुतोंने सोचा, पर ज्योंही लाखकी जायदाद हुई त्यों ही कितनी उलझनें उसके सामने आ गई।

सो भैया धर्मकी जब करनेकी धुनि आए तभीसे करना चाहिए। कोई सोचे कि इतना धन सचय करलें, फिर एकदम से धर्म करेंगे तो वह धर्म नहीं कर सकता है। जो मुनिजन उपद्रव और उपसर्गके समय भी विकल्पको करना पसद नहीं करते, वे मुनि चेला-चेली और इतने सग समागमके विकल्पको क्या पसद करेंगे? अगर इस विकल्पमें हैं तो गृहस्थ और मुनियों में कोई फर्क नहीं है। गृहस्थका इन लडकों बच्चोंमें मोह है, उनका चेला चेली में मोह है। और फिर दूसरी बात गृहस्थोंको तो बच्चोंमें मोह है, पर अपना मिथ्यात्व नहीं पोस रहे हैं ऐसा सम्भव है, पर उन अज्ञानी मुनिको वास्तव में चेला चेलीमें भी मोह नहीं है, किन्तु चेला चेलीकी वजहसे अपने को बड़ा जतानेमें मोह है। इस कारण इस दृष्टिसे बच्चोंसे मोह करने वाले गृहस्थसे भी गया बीता वह अज्ञानी मुनि है।

यहा यह तात्पर्य है कि परम उपेक्षा सयमको धारण करने वाले मुनि को समस्त परिग्रह छोड़ना चाहिए क्योंकि यावन्मात्र कुछ भी परिग्रह है वह शुद्ध आत्मतत्त्वके अनुभवमें बाधा डालने वाला है। जब परम उपेक्षा सयम न रहे तब वीतराग शुद्धआत्माकी अनुभूति और भावसयमकी रक्षाके लिए कुछ उपकरणको ग्रहण करता तो है, पर उपकरणमें ममताको नहीं करता है। जो उपकरणको जान मानकर सजा सजाया हुआ रखे तो उसके ममत्व सिद्ध नहीं होता क्या? उपकरण है, जैसा मिला वही ठीक है, बल्कि टेढ़ा-टापटा मिला तो और अच्छा है। उसमें मोह तो न आयेगा।

जब विशेष संहनन नहीं है, विशेष शक्ति नहीं है, जैसे कि बाहुबलि स्वामी ने जबसे दीक्षा ली तबसे एक ही स्थान पर निश्चल होकर पर्याय व्यतीत कर दिया। न ऐसी शक्ति हो तो आहार, विहार, निहार तो करना ही होगा। बाहुबलि स्वामीने दीक्षा लेने के बाद न आहार किया, न विहार किया, न निहार किया और मुक्त हो गए। जब नहीं है विशेष शक्ति उस समय यद्यपि उस तपस्याकी पर्याय परिणमनमें सहकारी कारण है शरीर और शरीर का सहकारी कारण है अन्नपान और नियम सयम, ज्ञानका उपकरण या प्रासुक शय्या आदिक इनको ग्रहण करता है, पर ममत्वको नहीं करता है। भला जिसने रमणीक, आज्ञाकारी, सुन्दर मकान, स्त्री, पुत्र का तो मोह छोड़ा और सयमके स्थानमें वह मोह करने लगे तो ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अजीर्ण रोगके भयसे भोजनका तो त्याग कर दे और औषधिको मात्रासे अधिक खावे? यही हाल उन अज्ञानी मुनियोंका होता है।

अब यह बतलाते हैं कि कोई मुनि जिनदीक्षाको ग्रहण करके केशोंका लोंच करके भी समस्त परिग्रहका परित्याग न करता हो तो उसने अपनी

आत्माको ही ठगा है।

केणवि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण।
सयलवि संग ण परिहरिय जिणवरलिंगधरेण ॥९०॥

जिस किसी ने जिनवरका भेष धारण करके छारसे सिरके केश लौंच करके परिग्रहको न छोड़ा तो उसने अपनी आत्माको ही ठग लिया। जिस पुरुषने मनका तो मुण्डन नहीं किया और सिरका मुण्डन किया, उस पुरुषने तो अपनी आत्माको ठगा, मन नहीं मूड़ा सिर मूड़ लिया। आत्माकी समृद्धि तो मनके मुण्डनसे थी क्योंकि जितने भी संकट हम आपको सता रहे हैं ये केवल मनकी दौड़के संकट हैं और कोई संकट नहीं हैं। सभी जीव अकेले हैं, अकेले आये हैं, अकेले रह रहे हैं, अकेले जायेंगे, क्या मतलब है किसी बातसे, मगर यह मन कितने परिग्रहोंको अपना रहा है और जिन परिग्रहोंको अपनाते हैं वे अपने तो हैं नहीं, परपदार्थ हैं। अपने चतुष्टयसे हैं। जिस परिणमनको अपनी इच्छाके अनुकूल यह जीव नहीं पाता है उसमें सक्लेश करता है।

सो भैया ! सबसे पहिला काम है कि मनको मूडो। इस मनको मूड़ने के लिए बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों का उपकरण चाहिए। वह शस्त्र है सहज परमात्मतत्त्वकी भावना। उससे ही मनको जीता जा सकता है। मैं विषयरहित हूं, परिग्रहरहित हूं, शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। वीतराग निर्विकल्प आत्मीय आनन्द स्वरूप एक सुख रसमय हूं। स्वादमें परिणत परमात्मतत्त्वकी भावनारूप तीक्ष्ण शास्त्रोपकरणसे पहिले मनका मुण्डन करिये। मनके मुण्डनका अर्थ क्या है कि बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहकी आकांक्षारूप वह इस प्रकारके अन्य सर्वमनोरथकी लहरोंका त्याग करदे—यही है मनका मुण्डन। सो उसको तो किया नहीं और जिनदीक्षारूप सिरका मुण्डन कर लिया तो, ऐसा करके तो उसने अपनी आत्माको ही ठगा, क्योंकि सर्वबाधा करने वाला तो संग है, उसका तो परित्याग नहीं किया।

यहां इस व्याख्यानको जानकर यह शिक्षा लेना है कि परिग्रह बढ़ावो तो सहज आनन्दका परिग्रह बढ़ाओ। जो निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न होता है—ऐसा वीतराग परमस्वाश्रित आत्मीय आनन्दको ग्रहण करिये और तीनों लोकमें, तीनों कालमें जितना भी देखा सुना अनुभवा परिग्रह है, उसको मन, वचन, कायसे कृतकारित अनुमोदना से त्याग करना चाहिए। कहां तो यह आत्मा केवल स्वतंत्र शुद्ध ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूपमात्र निष्परिग्रह है और कहां अपने इस निष्परिग्रहस्वभावको भूलकर बाह्यपरिग्रहोंमें उपयोग दिया जा रहा है। यह एक बड़े खेदकी बात है। अपने

निष्परिग्रह स्वभावका परिग्रहण करो और निष्परिग्रह शुद्ध आत्माके अनुभव से जो बिल्कुल विपरीत है, ऐसे बाह्यपरिग्रहकी आकाक्षावोंका परित्याग करो।

अब यह बतला रहे हैं कि जो सर्वपरिग्रहोंका त्यागरूप जिनलिंगको ग्रहण करके भी अपने इष्टपरिग्रहको ग्रहण करेमें वह वमन करता है, फिर उस उगले वमनको ही निगल लेता है, ग्रहण कर लेता है, समेट लेता है।

जे जिणलिंगु धरेवि मुणि इट्ठपरिग्गह लेंति।

छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति ॥६१॥

जो कोई भी मुनिजन तपोधन जिनलिंगको ग्रहण करके इष्ट परिग्रह को ग्रहण करता है वह क्या करता है कि वमन करके उस ही वमनको फिर निगल लेता है। वह परिग्रह क्या चीज है ? गृहस्थकी अपेक्षा तो चैतन्य परिग्रह पुत्र स्त्री आदिक हैं और स्वर्ण आदिक अचेतन परिग्रह हैं, और सजे सजाए पुत्र आदिक मिश्र परिग्रह हैं। यह तो है गृहस्थका परिग्रह और तपस्वियोंकी अपेक्षासे परिग्रह क्या है ? छात्र, शिष्य, मुनि, अर्जिका—ये तो हैं उनके चेतन परिग्रह और पीछी, कमण्डल, पुस्तक आदिक हैं अचेतन परिग्रह और उपकरणसहित मुनि आदिक हैं मिश्र परिग्रह।

यहां परिग्रहकी व्याख्या चल रही है। यदि और आध्यात्मिक पद्धतिमें उतरें तो मिथ्यात्व रागादिक भाव तो हैं चेतन परिग्रह और द्रव्य कर्म, नोकर्म, शरीर और ज्ञानावरणादिक ८ कर्म ये हैं अचेतन परिग्रह। और द्रव्यकर्म भावकर्मका जहा एक नर्तन हो रहा है—ऐसा जो सम्बन्धरूप परिणमन हो रहा है, वह है मिश्र परिग्रह। और भी भीतर चलकर देखो तो जो वीतरागी पुरुष है, त्रिगुप्त पुरुष है, समाधिमें रहने वाला साधु है, उसकी अपेक्षामें उसका परिग्रह क्या है कि सिद्ध भगवान् तो है सचेतन परिग्रह। अपने ज्ञानमें अपने ही सिद्ध भगवान्को लिए रहना यह चेतन परिग्रहको लादना है। काम तो शुद्धस्वभावमें निर्विकल्प समाधिमें रहने का था। सो यहां बतलाया जा रहा है कि निर्विकल्प समाधिमें रहने वाले पुरुषकी अपेक्षा, अपनी अपेक्षा न जान लेना, उस समाधिस्थ पुरुषके लिए सिद्ध रूप है। सचित्त परिग्रह और पुद्गल आदिक ५ द्रव्य हैं अचित्त परिग्रह। और गुण-स्थान मार्गणास्थान जीवस्थानमें परिणत ससारी जीव है मिश्र परिग्रह। अथवा समीचीनताके लिए यह बोध है।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यतर परिग्रहसे रहित जिनलिंगको ग्रहण करके भी जो अपने माफिक इष्ट परिग्रहको ग्रहण करता है, जो इष्ट परिग्रह शुद्ध आत्माके अनुभवमें विघ्नका कारण है, ऐसा इष्ट परिग्रह जो ग्रहण

करता है वह वमन किए हुए आहारको निगलने वाले पुरुषकी तरह अविवेकी कहलाता है। देखो तो जो जीव अपने माता पिता पुत्र शत्रु मित्रको छोड़कर परके घर पुत्र आदिकमें मोह करता है अर्थात् अपने परिवारको छोड़कर शिष्य उपकरण आदिकमें राग करता है वह मानों भुजाओंसे समुद्रको तैर कर गायके खुरके बराबर पानीके गड्ढेमें डूब जाता है। याने बड़े समुद्रको तो भुजाओंसे तैर लिया और गायके खुर बराबर पानीके गड्ढेमें गिरकर मरता है। जिसमें भयंकर जलचर भरे हैं ऐसे समुद्रको तो तैर लिया और गायके खुरके बराबर पानीके गड्ढेमें गिर गया, उसे क्या कहोगे? यह कितने अचम्भेकी बात है कि घरके लाखोंके वैभवका तो परित्याग कर दिया, अब शिष्य और उपकरणोंमें राग कर रहा है। सो भैया! सर्वप्रकारके परिग्रह का त्याग होना चाहिए।

जो जीव ख्याति, पूजा और लाभके निमित्त शुद्ध आत्माको तजता है वह लोभकी लीलाके निमित्त देवको और देवकुलको जला देता है। अब यह वर्णन इस दोहेमें किया जा रहा है।

लाहहं कित्तिहि कारणिण जे सिवसगु चयंति।
खीलालग्गिवि तेवि मुणि देउलु देउ दहंति ॥ ९२ ॥

लाभ और कीर्तिके कारणसे जो चिदानन्दस्वभावीको तजता है अर्थात् परमात्माके ध्यानको छोड़ देता है वह मुनि लोहेकी कीलके लिए अर्थात् लोहेकी कीलके समान असार इन्द्रिय सुखके लिए अपने आत्मदेव को और देवकुलको अर्थात् मुनित्वको वह जला देता है। ख्याति, पूजा और लाभ- इन तीनोंमें यह अन्तर है कि ख्यातिमें तो नामकी प्रसिद्धिका भाव आता है और पूजामें कोई पूजे, सत्कार करे-- इस प्रकारका भाव आता है और लाभसे किन्हीं आरामके साधनोंकी प्राप्ति हो, ऐसा तात्पर्य निकलता है। जो पुरुष ख्याति, पूजा, लाभके लिए निज परमात्मतत्त्वके ध्यानको छोड़ता है वह निःसार इन्द्रिय सुखके लिए अपने आत्मदेवको जला देता है।

जैसे किसीको लोहेकी कीलकी जरूरत थी, भींतमें ठोकनी थी, उस पर कमीज टागनी थी, तो कील कहीं न मिली। एक कील मन्दिरके दरवाजे में चौखटमें चुभी हुई मिली। तो वह निकले कैसे? कील निकालनेका हथियार भी न था। सो आग लगा दी, दरवाजा जल गया, कील निकल आयी। कीलको दीवालमें ठोक दी और कमीजको टाग दिया। ऐसा कोई घरमें करे तो क्या उसके मा बाप उसे घरमें रहने देंगे? न रहने देंगे, उसे मारेंगे। तो जैसे कोई लोहेकी कीलके वास्ते मन्दिरको जला दे, इसी प्रकार जो मायावी असार ख्याति, पूजा, लाभके लिए मुनिपदको धारण करके केवल

इस ही ख्यातिकी धुनि रखता है और आत्मस्वरूपके ध्यानका अवसर खत्म कर देता है, वह ऐसे ही मूर्खोंमें से है, ऐसा इस दोहेमें कहा जा रहा है। क्योंकि जब ख्याति, पूजा और लाभके लिए शुद्ध आत्माकी भावनाको छोड़ देता है तब वहां कर्मबंध होता है।

ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे केवल ज्ञान आच्छादित होता है। केवलज्ञान प्रकट नहीं होता और केवल दर्शनावरण कर्मके उदयसे केवलदर्शन आवृत्त होता है, वीर्य अन्तरायकर्मके उदयसे केवल वीर्य आच्छादित होता है और मोहनीके उदयसे अनन्त सुख आच्छादित होता है। इस प्रकार जब अनन्त-चतुष्टयका लाभ नहीं हो सका तो उन्होंने भावी परमौदारिक शरीरका विनाश किया ना, उसको नहीं प्राप्त कर सकता है। यद्यपि आजके समयमें मुक्ति नहीं होती है, ऐसा आत्मबल नहीं जगता, ऐसे संहनन आदिक नहीं हैं, ऐसा पुरुषार्थ प्रकट नहीं कर सकता तो भी जो ज्ञानसाध्य बात है, जितना संयम निभ सकता है, आत्मसंयम चल सकता है, उसको कोई जीव करे तो यहांसे स्वर्गमें उत्पन्न हो, फिर विदेहमें उत्पन्न हो लेगा। वहा तो सब साधन अब भी हैं, शाश्वत हैं, वहांसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, पर कोई अभी ही स्वच्छन्द रहे तो उन्नतिकी आशा तो दूर रही उसकी दुर्गति और अवनति ही निश्चित है। इसलिए शुद्ध आत्माकी भावना अवश्य कार्यकारिणी है।

भैया! शुद्धात्मभावनाको छोड़कर और कुछ इस जीवको शरण भी नहीं है। कौनसा ऐसा भाव है या पदार्थ है जिसकी शरणमें जाऊं और अशान्ति दूर हो। एक ही उपाय है, दूसरा तो कुछ है ही नहीं। कहां जायें जहां अशान्ति दूर हो। किसी परवस्तुको अपना लेंगे, वहां जायेंगे तो वह पर तो पर ही है। उसका परिणमन इसके आधीन नहीं है। संयोग वियोग होगा और यह चूंकि मलिन है, परकी शरणमें गया है, सो विकल्प करके दुःखी होगा। पर जीव है, चाहे वह बड़ा हो या छोटा हो, महंत हो, मित्र हो, कैसा ही हो, पर तो पर ही है। एक तो उनके समझाये जाने पर भी खुद ही सावधान रहें, समझे तो समझमें आयगा और खुदका पुरुषार्थ न जगाया तो दूसरा कोई समझा न देगा। फिर पर तो पर ही है। परकी ओर अभिमुखता रहे, दृष्टि जगे तो इस बहिर्मुखताका फल ही आकुलता है। अशान्तिका काम स्वयं ही कर डाला है। किसकी शरण जाऊं? व्यवहारमें जो परमात्मप्रभुकी शरण लेता है। उस शरणका आशय निजस्वभावके ग्रहण करनेका है। यदि निजस्वभावमें ग्रहण करनेका आशय न होता तो उस परप्रभुकी भक्तिमें भी उस ही ढंगकी आकुलता होगी, जिस ढंगकी आकुलता यहांके लौकिक जनोंके अनुराग करनेमें होती है। किसकी शरण जाऊं

कि अशान्ति दूर हो ? यह तो हुई परपदार्थोंकी बात ।

अब अपने आपके अन्दर ही देखो कोई मनुष्य क्रोधकी शरणमें जाता है, कोई मानकी शरणमें जाता है, कोई मायाकी शरणमे जाता है और कोई लोभकी शरणमें जाता है । जो जीव जिस भावका आलम्बन करके अपनेको शान्त हुआ मानता है वह उसकी ही शरणमें गया हुआ समझिये । सो इस वैभवकी शरणमे पहुचनेसे क्या शान्ति दूर हो सकती है ? नहीं । किसकी शरणमें जायें कि यह आत्मा शान्तिरसमें मग्न हो जाय ? ऐसा तत्त्व लोकभरमें निहार तो डालिये । केवल एक शुद्ध निज सहज ज्ञान-स्वभाव ही तत्त्व ऐसा मिलेगा कि जिसकी शरण गहे तो नियमसे तत्काल शान्ति लाभ होगा ।

भैया ! शान्तिके उपायके लिए तो सर्वबाह्यपरिग्रह तजा, निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंग ग्रहण किया और वहा भी ख्याति, पूजा, लाभका भाव रहा तो जैसे कोई मूढ़, क के माइण्ड छोटीसी कीलके लिए दरवाजेको जला डाले, इसी तरह एक तुच्छ मनकी मौज पानेके लिए जो कि कल्पित है, दुखोंसे घिरा है, अपने परमात्मस्वरूपके पदको जला डाले तो इसे क्या कहोगे ? इस दोहेसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि है तो यह मुनियोंके लिए उपदेश, पर यह उपदेश हमारे लिए भी है । हम भी यह शिक्षा लें कि इस मायामयी संसारमें अपने नामकी प्रसिद्धी या पूजा लाभका स्वप्न तो निहारते हैं, ख्याल बनाते हैं तो वे कुपथमें हैं और आत्मतत्त्वके दर्शनसे विमुख हैं । उसमें कभी सिद्धि नहीं मिल सकती है ।

इसी परिग्रहत्यागके प्रकरणमें अब यह बतलाते हैं कि जो पुरुष बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहसे अपनेको महान् मानता है, महत मानता है वह परमार्थको नहीं जानता है । यह बात इस दोहेमे दिखाते हैं ।

अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि गरुयउ गथहि तत्थु ।
सो परमत्थे जिणु भणइ णवि बुज्झइ परमत्थु ।। ९२ ।।

जो मुनि परिग्रहसे अपनेको बडा मानता, परिग्रहसे गौरव जानता है निश्चयसे वह पुरुष परमार्थको नहीं जानता है– ऐसा जिनेश्वर देव कहते हैं । खूब सघ हो, खूब शिष्य समुदाय हो, बड़ी चाटुकारिताका सघ हो, बहुत बडे आरामके साधन और प्रताप जतानेके साधन जुटाये हों, उनमें अपना गौरव माने तो ऐसे पुरुषको परमात्मतत्त्वके देखनेका तो अवसर ही नहीं मिलता । परकी ओर, ख्याति, पूजा, आदिकी ओर, अपनी पर्यायबुद्धिना की ओर क्षण भरको भी दृष्टि जाय तो वह दृष्टि क्षण भरमें लौटकर नहीं वापिस आ सकती है । वह घटों तक उलझती है । तो फिर ऐसे ही जिसने

परिग्रहका गौरव माननेकी वृत्ति करी, फिर घटों उलझ गया, फिर वृत्ति करी, फिर घटों उलझ गया। अब बेचारे परवश उस पुरुषको, साधुको परमार्थ तत्त्वके जाननेका अवसर ही नहीं हो पाता।

यह परिग्रह इस निर्दोष परमात्मतत्त्वसे अत्यन्त विलक्षण है। इस सचित्त, अचित्त, मिश्र परिग्रहसे अथवा ग्रन्थरचना, शब्दशास्त्र, शास्त्रज्ञान आदिक परिग्रहोंसे जो अपनेको महान् मानता है वह परमार्थ शब्दके द्वारा संकेत किए गए परमात्मतत्त्वको जो कि वीतराग परमानन्द एकस्वरूप है उसको नहीं जानता। जो स्वममय है, जो निर्विकल्प, निर्दोष शुद्धज्ञानमात्र परमात्मतत्त्वकी आराधनामें जुटता है उस ओर जिसकी दृष्टि है वह ही परमार्थतत्त्वको जानता है। निर्मोह गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें स्थित है; पर मोहवान् मुनि मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। गृहस्थ तो परिस्थितियोंसे भी विवश होकर राग करनेको विवश होता है, पर सर्व धन वैभव परिग्रहके त्यागी किन्तु अपनी कल्पनासे अन्य प्रकारके परिग्रहोंमें लगा हुआ मुनि परिस्थितिवश विवश नहीं है किन्तु मनकी स्वच्छन्दतासे विवश है। जो परिस्थितिवश विवश हैं वे आपत्तियों और उलझनोंके क्षणमें भी परमात्मतत्त्वकी झलक ले सकते हैं। किन्तु जो मनकी स्वच्छन्दतासे विवश हैं, ऐसे भवमें जो जिनवर का भेष भी बनाए हों, तो भी किसी भी समय परमार्थतत्त्व की झलक नहीं ले सकते। परिस्थितिवश होने वाली विवशता कुछ ही क्षण बाद भूली जा सकती है। किन्तु मनकी स्वच्छन्दताके कारण पर्यायबुद्धिता में बहुत लम्बे प्रयोजन वाला पुरुष अपनी भूलको नहीं छोड़ सकता और परमार्थका दर्शन नहीं कर सकता। जो बाह्य और आभ्यतर परिग्रहसे अपने आपको महत मानता है, वह परमार्थ परमात्मतत्त्वको नहीं जानता है॥

अब इस स्थलमें अंतिम दोहे में एक प्रश्नका उत्तर दिया जा रहा है कि परिग्रहसे अपने को महान मानने वाला पुरुष परमार्थतत्त्वको क्यों नहीं जान पाता? तो इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—

बुज्झतहँ परमत्थु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ।
जीवा सयलवि बम्भु परु जेण वियाणइ सोइ॥६४॥

परमार्थतत्त्वको जो जानने वाले जन हैं उनकी दृष्टिमें कोई जीव न बड़ा है और न छोटा है। सभी जीव परमब्रह्म स्वरूप हैं, क्योंकि परमार्थत. वह सम्यग्दृष्टी सभी जीवोंको अपने स्वरूपके सदृश जानता है। महत बननेकी इच्छा तब होती है जब चित्तमें यह बात बैठी हो कि और सब जीव तो

न कुछ हैं, तुच्छ हैं, इनमें हम ही महान् होनेके काबिल हैं—ऐसा सबको लघु मानें और अपने को गुरु मानें तो ऐसी दृष्टिमे गुरुताकी प्रसिद्धिका उपाय वह बाह्य आडम्बर समझता है। सो बाह्य आडम्बरोंको रखकर अथवा बाह्य परिकर और परिग्रहोंके द्वारा अपने आपके महतपनेकी ख्याति करने का यत्न करते हैं और जिसकी इतनी बहिर्मुख दृष्टि बन गई है कि अत्यताभाव वाले परपदार्थोंके प्रसगसे अपनेको महत बनाना चाहिए—ऐसी बहिर्मुख दृष्टि है तो ऐसी दृष्टिमें भला सोचो कि अन्तरमुखपनेका कार्य कैसे हो सकता है ?

भैया ! जो परमार्थको जानते हैं उनके अभिप्रायमे न कहीं बड़प्पन है और न कहीं लघुपन है, क्योंकि वे समझते हैं सबके सहज अंत स्वरूपमें उपयोग देकर कि सभी जीव परमब्रह्मस्वरूप हैं। इस कारणसे ब्रह्म शब्द द्वारा वाच्य मुक्त आत्मा केवलज्ञानके द्वारा सबको जानते हैं तो इसी प्रकार निश्चयनयसे वह भी एक निरक्षिन जीव ससारी सबको जानता है। यह शक्तिकी दृष्टिसे वर्णन है। जिस गाठकी पूंजीसे भगवान् प्रभु समस्त विश्वको जानते हैं वह गाठकी पूंजी सर्वजीवोंके पास पड़ी हुई है। इस तरह उस यथार्थस्वरूपका भान करके जो जीवका स्वरूप समझ रहे हैं, परमार्थ जान रहे हैं, उनकी दृष्टिमे सब जीव एक समान हैं। न कोई बड़ा है और न कोई छोटा है। यों परमार्थके जाननहार गुरुजन परिग्रहको, सग को, परिकरको अत्यन्त हेय समझते हैं।

जहा शिष्य उपकरण, ग्रन्थोंका ढेर आदि परिकरोंसे अज्ञानी मुनि अपना गौरव व्यक्त करता है वहा ज्ञानी मुनि इस बातसे शरमाता है। वह जानता है कि मेरा स्वरूप सर्वसे विविक्त शुद्ध चैतन्यमात्र है। और इसकी दृष्टि किसी भी परकी ओर रचमात्र भी फस जाये तो यह बहुत लज्जाकी बात है। जैसे कुलीन पुरुष अपने बच्चेको कुलके विरुद्ध कुछ कार्य करता हुआ देखता है तो वह कहता है कि 'बेटा ! तुझको शरम नहीं आती। अपने कुलमें यह बात कभी भी नहीं हुई।'

जैसे जिस कुलमे पुरुषोंमे किसीने बीडी सिगरेट न पी हो और अब कोई बच्चा बीड़ी सिगरेट की आदत डाले, यत्न करे तो घरके बड़े यों ही तो समझाते हैं कि तुम कुल-कलकी बन रहे हो। जैसे कभी भी किसी ने बीडी सिगरेट अपने कुलमें छुई भी नहीं, तुम्हें लज्जा नहीं आती। इसी तरह जो अपने शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टिके अभ्यासी हैं, वे अपने आपमें ऐसा

तकते हैं कि अपने ज्ञानस्वभावकी श्रद्धाको छोड़कर किसी बाह्यपदार्थमें विकल्प डाले तो यह तेरे लिए लज्जाकी बात है। तेरी चेतनप्रभुके चैतन्यकुल में यह बात होनी योग्य नहीं है। ज्ञानी पुरुष परिग्रहसे अपने को गौरव नहीं अनुभवता और निज ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे ही अपने आपमें शांतिको प्राप्त करता है। इस प्रकार इस द्वितीय परिच्छेदमें, इस महास्थल में इस समय परिग्रहके व्याख्यानकी मुख्यतासे इस द्वितीय अन्तर स्थलमें यह बात दर्शायी है कि किसी भी संग-परिकरसे अपनेको महान् मत समझो। जिसे अपने ज्ञानस्वभावकी ओर लगन हुई हो, उसे बड़प्पन समझने का ख्याल ही कहां रहेगा? ज्ञानस्वभाव व ज्ञानविकासको ही परमार्थसे महान् समझो।

❀ इति परमात्मप्रकाश प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ❀

मुद्रक—खेमचन्द जैन, शास्त्रमाला प्रिंटिंग प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ